कबीर साहित्य और उनका रहस्यवाद

(Kabir Literature and his Mysticism)

सीताराम यादव

कबीर साहित्य और उनका रहस्यवाद

कबीर साहित्य और उनका रहस्यवाद

(Kabir Literature and his Mysticism)

सीताराम यादव

भाषा प्रकाशन

नई दिल्ली - 110002

© प्रकाशक

I.S.B.N. : 978-81-323-5466-6

प्रथम संस्करण : 2021

भाषा प्रकाशन

22, प्रकाशदीप बिल्डिंग, अंसारी रोड,
दरियागंज, नई दिल्ली – 110002

द्वारा वर्ल्ड टेक्नोलॉजीज नई दिल्ली के सहयोग से प्रकाशित

प्रस्तावना

हिंदी साहित्य में रहस्यवाद सर्वप्रथम मध्य काल में दिखाई पड़ता है। संत या निर्गुण काव्यधारा में कबीर के यहाँ, तथा प्रेममार्गी या सूफी काव्यधारा में जायसी के यहाँ रहस्यवाद का प्रयोग हुआ है। दोनों परम सत्ता से जुड़ना चाहते हैं और उसमें लीन होना चाहते हैं–कबीर योग के माध्यम से तथा जायसी प्रेम के माध्यम से, इसलिए कबीर का रहस्यवाद अंतर्मुखी व साधनात्मक रहस्यवाद है तथा जायसी का बहिर्मुखी व भावनात्मक रहस्यवाद है।

कबीर भक्त पहले थे, ज्ञानी बाद में। कबीर की मूल अनुभूति अद्वैत की है, लेकिन कबीर ने उसे रहस्यवाद के रूप में व्यक्त किया है। कबीर वेदांत के अद्वैत से रहस्यवाद की भूमि पर आए है। उनका रहस्यवाद उपनिषदों के ऋषियों के समान रहस्यवाद हैं, जो अद्वैत के अंतर्विरोधों में समन्वय करने वाली अनुभूति है। वे सगुण की अपेक्ष निर्गुण ब्रह्म के उपासक हैं। इस कारण उनका भगवत-प्रेम रहस्यवाद कहलाया। कबीर ने अद्वैत ज्ञान, प्रेममूलक भक्ति और रहस्यवाद के मिश्रण से निर्गुण भक्ति में मौलिक स्थापना की। रहस्यवादी प्रेम को अपनाने के कारण उनकी भक्ति में सुगण भक्ति जैसी सरसता आ गई।

कबीर ने जीवात्मा-परमात्मा के प्रेम का सीधा-सीधा चित्रण किया है। उन्होंने इसके लिए सूफी कवियों के समान कथा-रूपकों का प्रयोग नहीं किया है। परमात्मा से प्रेम को साकार व अनुभवजनित रूप देने के लिए कबीर को प्रतीकों, रूपकों व अन्योक्तियों का अवश्य आश्रय लेना पड़ा। ये प्रतीक कबीर

के आध्यात्मिक प्रेम को व्यक्त करते हैं। इनमें कहीं भी लौकिक पक्ष का समावेश नहीं हुआ है। गुरु की कृपा से उनके भीतर ईश्वर के प्रति अनुराग उत्पन्न होता है। इससे उनके हृदय-चक्षु भूल जाते हैं तथा उन्हें उस परमात्मा सत्ता के दर्शन होते हैं। तब कबीर अत्यंत आनंदित हो जाते हैं।

कबीर के काव्य में अनुभव की अत्यंत तीव्रता है। कबीर ने जीवात्मा और परमात्मा के इस प्रेम को पति-पत्नी के रूप में चित्रित किया है। कबीर ने कई बार पत्नी के रूपक में तो अधिकांश साखियाँ ऐसी कही हैं, जिनमें पुल्लिंग का प्रयोग जीवात्मा के लिए किया है। कहीं- कहीं कबीर ने इसे अन्य संबंधों के रूप में भी माना है।

पुस्तक लेखन में कई लिखित व अलिखित स्रोतों से मदद ली गई है; मैं उन सभी विज्ञ लेखकों के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ। आशा करता हूँ कि पुस्तक पाठकों के लिए उपयोगी होगी।

–लेखक

अनुक्रम

प्रस्तावना *v*

1. कबीर साहित्य **1**

कबीरदास की भाषा और शैली 1

पंचमेल खिचड़ी भाषा 2

कबीर का प्रेम 16

व्यवहार प्रधान साखियाँ 23

पद (शब्द) 24

रमैनी 25

चौंतीसा 26

बावनी 26

विप्रमतीसी 26

वार 26

थिंती 27

चाँचर 27

बसंत 27

हिंडोला 28

बेलि 28

कहरा 28

बिरहुली 29
उल्टवाँसी 29
2. कबीर का जीवन परिचय 31
जन्म 31
जन्मस्थान 32
माता-पिता 32
बचपन 33
जुलाहा 33
शिक्षा 34
वैवाहिक जीवन 35
गुरु दीक्षा 36
मृत्यु 37
कबीर का जीवन दर्शन 38
हिन्दू-मुस्लिम एकता 39
कबीर की महिमा 40
3. कबीर की साखी 41
4. कबीर के दोहे 84
5. कबीर का रहस्यवाद 91
रहस्यवाद के अंतर्गत प्रेम के स्तर 91
कबीर और जायसी का रहस्यवाद–तुलनात्मक विवेचन 108
6. कबीर ग्रंथावली 116
ग्रंथावली का संपादन 116
रामकिशोर शर्मा का कथन 117
भक्त संतों की परंपरा 121
माता-पिता 127
गुरु 129
शिष्य 131
गृहस्थ जीवन 132
अलौकिक कृत्य 133
मृत्यु 134
तात्विक सिद्धांत 136

व्यावहारिक सिद्धांत 147
काव्यत्व 158
उपसंहार 163
7. कबीर की समाज संबंधी विचारधारा 165
8. कबीर की प्रासंगिकता : आधुनिक संदर्भ 170

1

कबीर साहित्य

कबीर सन्त कवि और समाज सुधारक थे। उनकी कविता का एक-एक शब्द पाखंडियों के पाखंडवाद और धर्म के नाम पर ढोंग व स्वार्थपूर्ति की निजी दुकानदारियों को ललकारता हुआ आया और असत्य व अन्याय की पोल खोल धज्जियाँ उड़ाता चला गया। कबीर का अनुभूत सत्य अंधविश्वासों पर बारूदी पलीता था। सत्य भी ऐसा जो आज तक के परिवेश पर सवालिया निशान बन चोट भी करता है और खोट भी निकालता है।

कबीरदास की भाषा और शैली

कबीरदास ने बोलचाल की भाषा का ही प्रयोग किया है। भाषा पर कबीर का जबरदस्त अधिकार था। वे वाणी के डिक्टेटर थे। जिस बात को उन्होंने जिस रूप में प्रकट करना चाहा है, उसे उसी रूप में कहलवा लिया- बन गया है तो सीधे-सीधे, नहीं दरेरा देकर। भाषा कुछ कबीर के सामने लाचार-सी नजर आती है। उसमें मानो ऐसी हिम्मत ही नहीं है कि इस लापरवाह फक्कड़ की किसी फरमाइश को ना कर सके। और अकह कहानी को रूप देकर मनोग्राही बना देने की तो जैसी ताकत कबीर की भाषा में है वैसी बहुत ही कम लेखकों में पाई जाती है।

असीम-अनंत ब्रह्मानन्द में आत्मा का साक्षीभूत होकर मिलना कुछ वाणी के अगोचर, पकड़ में न आ सकने वाली ही बात है। पर 'बेहद्दी मैदान में रहा

कबीरा' में न केवल उस गम्भीर निगूढ़ तत्त्व को मूर्तिमान कर दिया गया है, बल्कि अपनी फक्कड़ाना प्रकृति की मुहर भी मार दी गई है। वाणी के ऐसे बादशाह को साहित्य-रसिक काव्यानंद का आस्वादन कराने वाला समझें तो उन्हें दोष नहीं दिया जा सकता। फिर व्यंग्य करने में और चुटकी लेने में भी कबीर अपना प्रतिद्वन्द्वी नहीं जानते। पंडित और काजी, अवधु और जोगिया, मुल्ला और मौलवी सभी उनके व्यंग्य से तिलमिला जाते थे। अत्यन्त सीधी भाषा में वे ऐसी चोट करते हैं कि खानेवाला केवल धूल झाड़ के चल देने के सिवा और कोई रास्ता नहीं पाता।

पंचमेल खिचड़ी भाषा

कबीर की रचनाओं में अनेक भाषाओं के शब्द मिलते हैं यथा - अरबी, फारसी, पंजाबी, बुन्देलखंडी, ब्रजभाषा, खड़ी बोली आदि के शब्द मिलते हैं इसलिए इनकी भाषा को 'पंचमेल खिचड़ी' या 'सधुक्कड़ी' भाषा कहा जाता है। प्रसंग क्रम से इसमें कबीरदास की भाषा और शैली समझाने के कार्य से कभी-कभी आगे बढ़ने का साहस किया गया है। जो वाणी के अगोचर हैं, उसे वाणी के द्वारा अभिव्यक्त करने की चेष्टा की गई है, जो मन और बुद्धि की पहुँच से परे हैं, उसे बुद्धि के बल पर समझने की कोशिश की गई है, जो देश और काल की सीमा के परे हैं, उसे दो-चार-दस पृष्ठों में बाँध डालने की साहसिकता दिखाई गई है।

कहते हैं, समस्त पुराण और महाभारतीय संहिता लिखने के बाद व्यासदेव में अत्यन्त अनुताप के साथ कहा था कि 'हे अधिल विश्व के गुरुदेव, आपका कोई रूप नहीं है, फिर भी मैंने ध्यान के द्वारा इन ग्रन्थों में रूप की कल्पना की है, आप अनिर्वचनीय हैं, व्याख्या करके आपके स्वरूप को समझा सकना सम्भव नहीं है, फिर भी मैंने स्तुति के द्वारा व्याख्या करने की कोशिश की है। वाणी के द्वारा प्रकाश करने का प्रयास किया है। तुम समस्त-भुवन-व्याप्त हो, इस ब्रह्मांण्ड के प्रत्येक अणु-परमाणु में तुम भिने हुए हो, तथापि तीर्थ-यात्रादि विधान से उस व्यापित्व को खंडित किया है।

कबीर साहित्य में जहाँ दर्शन, अध्यात्म, ज्ञान, वैराग्य की गूढ़ता मिलती है, वहीं उनके साहित्य में समाज सुधार का शंखनाद भी है। वह दार्शनिक होने के साथ-साथ, समाज सुधारक भी थे। समाज सुधार अर्थात् जन जीवन का उत्थान कबीर के जीवन की साधना थी। सुधार का समन्वित स्वरूप कि उन्होंने

भक्ति के आडम्बरों पर चोट की, वहीं अंधविश्वासों, रूढ़, प्रथा, परम्पराओं, अंधविश्वासों पर भी निर्भीकता से लिखा। भक्ति में सुधार, समाज की कुप्रथाओं में सुधार, जीवन के हर क्षेत्र में सुधार, कबीर के जीवन की साधना रही है। कबीर कवि होने के साथ ही साधक थे, दर्शनिक थे, तत्त्वान्वेषी थे, भक्त और ज्ञानी थे। वस्तुतः कबीर का जीवन उच्चतम मानवीय व्यक्तित्त्व की अभिव्यक्ति है।

प्रचलित धारणाओं के अनुसार, मस्तमोला संत कबीर रामानन्द जी के शिष्य थे। कबीर की जन्म तिथि में विभिन्न मतमतांतर हैं, पर विक्रमी सम्वत् के अनुसार पन्द्रवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध, सोलहवीं का प्रारम्भ व 1455-56 के आस-पास ही इनका जन्मकाल रहा। जन्मस्थान कोई काशी, कोई मगहर तथा कोई बलहरा गाँव आजमगढ़ के पास मानता है।

कबीर जब हुए देश में उथल-पुथल का समय था। मुसलमानों का आगमन, उनका आक्रमण, राज्य स्थापन और यहीं बस जाना, देश के इतिहास की बडी महत्त्वपूर्ण घटना थी। मुसलमानों का आक्रमण राजनीतिक वर्चस्व कायम करना ही नहीं बल्कि इस्लाम का प्रचार अधिक था। अलग सांस्कृतिक एवं सामाजिक इकाई के रूप में कट्टर विरोधी होकर रहना, हिन्दू समाज को अपने में आत्मसात् करने की भावना से सारा हिन्दू समाज आतंकित एवं भयभीत था। मूर्तियाँ व मंदिर खण्डित होते रहे। इस विषमतापूर्ण समय में हिन्दुओं के समक्ष, अपनी सांस्कृतिक आत्मरक्षा का प्रश्न था। ऐसे में पुनरुत्थान कार्य, साम्प्रदायिक एवं जातीय भावनाओं को सामने रखकर किया जाना सम्भव नहीं था। हिन्दुओं में भी विभिन्न मतमतांतर, पंथ, सम्प्रदाय बन चुके थे, जो हिन्दू समाज में अन्तर्विरोध दर्शाते थे। मानना होगा, ऐसी विपरीत स्थितियों के समय में जब हिन्दू संस्कृति, धर्म, जाति को झकझोर दिया गया था - कबीर की समन्वय साधना ने, समाज में पुनरुत्थान का कार्य किया। पुनरुत्थान भक्ति साधना से ही सम्भव था। कबीर का साहित्य इस बात का साक्षी है।

कबीर के पहले तथा समसामयिक युग में भक्ति साधनाओं में सबसे प्रमुख भक्ति साधना ही है। भक्ति आन्दोलन ने भगवान की दृष्टि में सभी के समान होने के सिद्धान्त को फिर दोहराया। कबीर की भक्ति भावना तथ्य से जुड़ी है। भक्तिपथ में भक्ति के द्वारा प्राण स्पंदन देने वालों में कबीर भी प्रमुख हैं। अनेकानेक साधनाओं के अन्तर्विरोध के युग में कबीर जन्मे थे। कबीर के व्यक्तित्त्व को सभी अन्तर्विरोधों ने प्रभावित किया, इस पर कबीर ने समन्वयवादी

दृष्टिकोण अपनाया। कबीर में परिस्थितिजन्य निर्णय की अभूतपूर्व क्षमता थी। वह आत्मचिंतन से प्राप्त निष्कर्षों को कसौटी पर कसने में कुशल थे। कबीर ने मानवतावादी तत्त्वग्राही व्यक्तित्त्व से अपने दृष्टिकोण में मजहबी, वर्गगत अहंकार तथा आचार संहिता की जड़कारा में उलझा देने वाले तत्त्वों को त्याग दिया। कबीर नैतिकता से विकसित भगवत्प्रेम में मानव कल्याण समझते हैं। कबीर की दृष्टि में यही मानवता का मूल आधार है। कबीर जीवन का चरम लक्ष्य परम तत्त्व की प्राप्ति मानते हैं। इस तत्त्व को प्राप्त करने का प्रमुख साधन ज्ञान और प्रेम है। कबीर के अनुसार ज्ञान से मतलब शास्त्र ज्ञान के अहंकार से मुक्त व्यक्ति को सहज रूप से ज्ञान होता है। ऐसे ही प्रेम का सहज रूप ही कबीर को मान्य है। कबीर ने आध्यात्मिक, धार्मिक, दार्शनिक एवं साधना के स्तर पर समन्वय का संदेश दिया है। कबीर संत हैं-भक्त हैं। कबीर ने अपने साहित्य में, भक्ति, प्रेम व सदाचरण से भगवान को प्राप्त करने का संदेश दिया। वस्तुतः कबीर की व्यथा किसी वर्ग विशेष की व्यथा नहीं थी, वह व्यापक मानवता की व्यथा थी। वर्तमान संदर्भों में उन्होंने आज की तरह प्रतिष्ठा दिलाने के लिए साधना नहीं की। क्योंकि कबीर के अनुसार साधना से ही मूलतः मानव व प्राणी मात्र का आध्यात्मिक कल्याण है।

कबीर के अनुसार पिंड और ब्रह्माण्ड से भी परे, निर्विशेष तत्त्व है, वही सबसे परे परम तत्त्व है, जिसका अनुभव होने पर भी वाणी में अवर्णनीय है। वह अलख है, उसे कहा नहीं जा सकता। पिंड और ब्रह्माण्ड से परे का जो तत्त्व है वही हरि है। उसका कोई रूप नहीं, वह घट -घट में समाया है। कबीर ने इस तत्त्व को कई नामों से व्यक्त किया है। अलख, निरंजन, निरर्भ, निजपद, अभैपद, सहज, उनमन तथा और भी। "गुन में निरगुन, निरगुन में गुन हैं बाट छाड़ क्यों जहिए। अजर अमर कथै सब कोई अलख न कथणां जाई। ।" इसी चिंतन में कबीर कहते हैं - "जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है - बाहर भीतर पानी। फूटा कुंभ जल जलहि समाना, यह तत कथौ गियानी। ।" तथा - "पानी ही से हिम भया हिम है गया बिलाई। ।"

प्रेम साध्य भी है - साधन भी। प्रेम स्वयं ही प्रेम का वरण करता है। अर्थात् केवल प्रेम के अनुग्रह से प्रेम प्राप्त होता है। प्रेम लौकिक, अलौकिक दोनों स्तर पर एक-सा रहता है। प्रेम वस्तुतः आत्मरति रूप है, अहेतुक होता है। आत्मबोध की सहज स्थिति आत्मरति है। कबीर ने आध्यात्मिक प्रेम को लौकिक माध्यम से व्यक्त किया - "कबीर यह घर प्रेम का खाला का घर नाहिं। सीस

उतारे हाथि करि, सो पैसे घर मांहि। ।" कबीर का सौन्दर्य ब्रह्म सविशेष ब्रह्म है, इससे उनके अन्त:करण में भगवान का प्रेम जागा तो कबीर ने कहा, "संतों भाई आई ज्ञान की आंधी रे। भ्रम की टाटी सबै उड़ानी, माया रहे न बाँधी रे।" कबीर के अनुसार लौकिक और आध्यात्मिक का भेद प्रेम की दिव्यता में बाधक नहीं है।

रहस्यवाद की तीन अवस्थाएँ होती हैं, अनुराग उदय, परिचय, मिलन। कबीर साहित्य में भावनात्मक तथा साधनात्मक दोनों तरह का रहस्यवाद मिलता है। कबीर में भावनात्मक रहस्यवाद की प्रथम अवस्था से ही साधनात्मक रहस्यवाद के भी दर्शन होते हैं। "पारब्रह्म के तेज का, कैसा है उनमान। कहिये कूँ सोभा नहीं – देख्या ही परमान। ।" वह और भी आगे लिखते हैं – "सुरति समांणी निरति में, निरति रही निरधार। सुरति निरति परचा भया तब खुले स्वयं दुवार। ।" और भी "जो काटो तौ डहडही, सींचौ तौ कुमिलाइ। । "

कबीर साहित्य में साखी कबीर का जीवनदर्शन है। साखी कबीर साहित्य का बहुत ही महत्त्वपूर्ण अंश है। साखियों में कबीर का व्यक्तित्त्व समग्र रूप से व्यक्त हुआ है। "साखी आँखी ज्ञान की समुझि लेहु मनमाहिं। बिनु साखी संसार का झगड़ा छूटै नाहिं। ।" कबीर साहित्य में गुरु का स्थान सर्वोपरि ईश्वर समकक्ष है। कबीर के अनुसार गुरु शिष्य को मनुष्य से देवता कर देता है। "गुरु गोविन्द दोउ खडे–काके लागूं पाय। बलिहारी गुरु आपने गोविन्द दियो मिलाय।" सद्गुरु के बारे में कबीर लिखते हैं "ग्यान प्रकास्या गुरु मिल्या, सो जन बीसरि जाइ। जब गोविन्द कृपा करी, तब गुरु मिलिया आई। । " इसके विपरीत अज्ञानी गुरु के बारे में कबीर कहते हैं – "जाका गुरु भी अंधला, चेला खरा निरंध। अंधे अंधा ठेलिया, दून्यूं कूप पडंत। ।" आज के संदर्भों में दार्शनिक कबीर की व्यक्त हुई कुछ–कुछ सटीक–सी लगती भावना "नां गुरु मिल्या न सिष भया, लालच खेल्या डाव। दुन्यूं बूडे धार में – चढ़ पाथर की नाव।"

जैसे ही सुमिरण को अंग, यानि मनन की अवस्था, विनती को अंग अर्थात् भगवान के समक्ष अपनी लघुता की अनुभूति तथा पति परमेश्वर के भाव की अभिव्यक्ति है। कबीर ने इस तरह 'अंग' के माध्यम में पचासों अंगों के तहत ज्ञान की अभिव्यक्ति हुई है। कबीर पर वैदिक विचारधारा, वैष्णव विचारधारा का प्रभाव था, उन्होंने अपने साहित्य में एकात्मक अद्वैतवाद, ज्ञान तत्त्व, गुरु भक्ति, भगवद्भक्ति, अध्यात्म योग, प्रणवोपासना, जन्मान्तरवाद, भगवान के विविध वैष्णवी नाम, ब्रह्म स्वरूपों में श्रद्धा, भक्ति उपासना तथा प्रपत्ति, योग के भेद,

माया तत्त्व आदि के माध्यम से काव्य रचना को संजोया। निर्भीक सुधारवादी संत कबीर ने, भक्ति ही क्या हर क्षेत्र में अंधविश्वासों पर चोट कर, रूढ़ परम्पराओं आडम्बरों से अलग हट, सामाजिक सुधार भरपूर किया। हिन्दू- मुसलमान दोनों के ही साम्प्रदायिक, रूढ़ग्रस्त विचारों की उन्होंने आलोचना की। अपनी सहज अभिव्यक्ति में कबीर ने लिखा - "कंकर पत्थर जोड़ के मस्जिद दी बनाय। ता पर मुल्ला बांग दे, बहरा हुआ खुदाय। ।" इतना ही नहीं इससे भी बढ़कर लिखा "दिन में रोजा रखत हो, रात हनत हो गाय। यह तो खून औ बंदगी, कैसे खुशी खुदाय। ।" ऐसे ही हिन्दुओं के अंधविश्वासों पर उन्होंने चोट की। धर्म के क्षेत्र में आडम्बरों का कबीर ने खुला विरोध किया। "पाहन पूजे हरि मिले - तो मैं पूजूं पहार। ताते तो चाकी भली, पीस खाय संसार। ।" कबीर का दृष्टिकोण सुधारवादी था उन्होंने बताया "मूंड मुंडाए हरि मिले, सबही लेऊँ मुंडाए। बार-बार के मूंड ते भेड न बैकुंठ जाए। ।" कबीर ने हिन्दुओं के जप-तप, तिलक, छापा, व्रत, भगवा वस्त्र, आदि की व्यर्थता बताते हुए लिखा-"क्या जप क्या तप संयमी, क्या व्रत क्या अस्नान। जब लगि मुक्ति न जानिए, भाव भक्ति भगवान। ।" मरणोपरांत गंगा में अस्थि विसर्जन पर कबीर ने लिखा - "जारि वारि कहि आवे देहा, मूआ पीछे प्रीति सनेहा। जीवित पित्रहि मारे डंडा, मूआ पित्र ले घालै गंगा। ।" समाज में कई अस्वस्थ लोकाचारों पर कबीर ने प्रहार किए। वे कहते हैं - यदि मन में छल कपट की गर्द भरी है तो योग भी व्यर्थ है। "हिरदे कपट हरिसँ नहिं सांचो, कहा भयो जो अनहद नाच्यौ। ।"

कबीर ने ब्रह्म को करुणामय माना है। ब्रह्म माया, और जीव के सम्बन्ध में कबीर के दार्शनिक विचारों का वर्णन है। कबीर निर्गुणोपासक थे। उन्होंने राम के गुणातीत, अगम्य, अगोचर, निरंजन ब्रह्म का वर्णन किया है। मानना होगा भक्ति आन्दोलन के सुधारवादी भक्त कवियों में कबीर का अपना अलग ही स्थान व नाम है। भगवा वस्त्र पहन कर जंगलों की खाक छानने के पक्ष में कबीर नहीं थे। उन्होंने धर्म एवं भक्ति में दिखावे को त्याग, तीर्थाटन, मूर्तिपूजा आदि को धर्म परिधि से बाहर रखा। कबीर कहते हैं, "काम-क्रोध, तृष्णा तजै, ताहि मिले भगवान। ।" राम अर्थात् उनके ब्रह्म में अपने खुद के समर्पण की चरमसीमा देखने योग्य है। "लाली मेरे लाल की, जित देखूं तित लाल। लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल। ।" कबीर के बारे में किसी ने यह सही लिखा प्रतीत होता है, "ज्ञान में कबीर परम हंस, कल्पना में योगी, और अनुभूति में प्रिय के प्रेम की भिखारिणी पतिव्रता नारी हो।" कबीर में अतिवाद कहीं भी नहीं। ब्रह्म

परमसत्ता को कबीर ने सहजता से सर्वव्यापी बताते हुए कहा – "ना मैं गिरजा ना मैं मंदिर, ना काबे कैलास में। मौको कहाँ ढूंढे बंदे, मैं तो तेरे पास में। ।"

कबीर का दृष्टिकोण सुधारवादी ही रहा। कबीर ने किसी धर्म विशेष एवं दर्शन की पताका ऊँची नहीं की। वस्तुतः उन्होंने तो अपने को मानवीय तत्त्वों से सम्बद्ध रखा। धर्म व सुधार के नाम पर कबीर ने जनता को उलझाया नहीं, उन्होंने तो खण्डन कर उलझनों से दूर रखा। जनमानस को अभेद की ओर प्रेरित कर भ्रम–माया से दूर रहने की प्रेरणा दी, इसीलिए कबीर मानवतावादी सुधारक माने जाते हैं। कबीर ने ईश्वर प्रेम, भक्ति व साधना में माया को बाधक माना। कबीर ने कहा माया आकर्षक व मनमोहक है। माया आचरण के कारण ही आत्मा अपने परमात्म रूप को नहीं पहचान पाती। माया ब्रह्म से मिलने नहीं देती। "कबीर माया पापणी, हरि सूं करे हराम। मुख कडया को कुमति, कहने न देई राम। ।"

पंद्रहवीं शताब्दी में संतकाल के प्रारंभ में सारा भारतीय वातावरण क्षुब्ध था। बहुत से पंडित जन इस क्षोभ का कारण खोजों में व्यस्त थे और अपने– अपने ढ़ंग पर समाज और धर्म को संभालने का प्रयत्न कर रहे थे। इस अराजकता का कारण इस्लाम जैसे एक सुसंगठित संप्रदाय का आगमन था। इसके बाद देश के उथल– पुथल वातावरण में महात्मा कबीर ने काफी संघर्ष किया और अपने कड़े विरोधों तथा उपदेशों से समाज को बदलने का पूरा प्रयास किया। सांप्रदायिक भेद– भाव को समाप्त करने और जनता के बीच खुशहाली लाने के लिए निमित्त संत– कबीर अपने समय के एक मजबूत स्तंभ साबित हुए। वे मूलतः आध्यात्मिक थे। इस कारण संसार और सांसारिकता के संबंध में उन्होंने अपने काल में जो कुछ कहा, उसमें भी आध्यात्मिक स्वर विशेष रूप से मुखर है।

इनके काजी मुल्ला पीर पैगम्बर रोजा पछिम निवाज।
इनके पूरब दिसा देव दिज पूजा ग्यारिसि गंगदिवाजा।
कहे कबीर दास फकीरा अपनी राह चलि भाई।
हिंदू तुरुक का करता एकै ता गति लखी न जाई।

कबीर– व्यवहार में भेद– भाव और भिन्नता रहने के कारण सांप्रदायिक कटुता बराबर बनी रही। कबीर दास इसी कटुता को मिटाकर, भाई चारे की भावना का प्रसार करना चाहते थे। उन्होंने जोरदार शब्दों में यह घोषणा की कि राम और रहीम में जरा भी अंतर नहीं है –

कबीर ने अल्लाह और राम दोनों को एक मानकर उनकी वंदना की है, जिससे यह सिद्ध होता है कि उन्होंने अध्यात्म के इस चरम शिखर की अनुभूति

कर ली थी, जहाँ सभी भिन्नता, विरोध- अवरोध तथा समग्र द्वैत- अद्वैत में प्रतिष्ठित हो जाते हैं। प्रमुख बात यह है कि वे हिंदू- मुसलमान के जातीय और धार्मिक मतों के वैमनस्य को मिटाकर उन्हें उस मानवीय अद्वैत धरातल पर प्रतिष्ठित करने में मानवता और आध्यात्म के एक महान नेता के समान प्रयत्नशील हैं। उनका विश्वास था कि "सत्य के प्रचार से ही वैमनस्य की भावना मिटाई जा सकती है। इस समस्या के समाधान हेतु, कबीर ने जो रास्ता अपनाया था, वह वास्तव में लोक मंगलकारी और समयानुकूल था। अल्लाह और राम की इसी अद्वैत अभेद और अभिन्न भूमिका की अनुमति के माध्यम से उन्होंने हिंदू- मुसलमान दोनों को गलत कार्य पर चलने के लिए वर्जित किया और लगातार फटकार लगाई।

ना जाने तेरा साहब कैसा है,
मस्जिद भीतर मुल्ला पुकारे, क्या साहब तेरा बहिरा है,
पंडित होय के आसन मारे लंबी माला जपता है।
अंतर तेरे कपट कतरनी, सो भी साहब लखता है।

हिंदू- मुसलमान दोनों का विश्वास भगवान में है। कबीर ने इसी विश्वास के बल पर दोनों जातियों को एक करने का प्रयत्न किया। भाईचारे की भावना उत्पन्न करने की चेष्टा की।

सबद सरुपी जिव- पिव बुझों,
छोड़ो भय की ढेक।
कहे कबीर और नहिं दूज।
जुग- जुग हम तुम एक।

कबीर शब्द- साधना पर जोर दे रहे हैं। इनका कथन है, तुम श्रम तज कर शब्द साधना करो और अमृत रस का पान करो, हम तुम कोई भेद नहीं हैं, हम दोनों इसी एक पिता की संतान हैं। इसी अर्थ में कबीर दास हिंदू और मुसलमान के स्वयं विधायक हैं।

बड़े कठोर तप, त्याग, बलिदान और संकल्प शक्ति को अपना कवच बनाकर भारत की जनता ने अपनी खोई हुई स्वतंत्रता को प्राप्त कर ली, लेकिन इसके साथ ही सांप्रदायिकता की लहर ने इस आनंद बेला में विष घोल दिया। भारत का विभाजन हुआ। इस विभाजन के बाद असंख्य जानें गई, लाखों घर तबाह हुए और बूढ़े, बच्चे, जवान, हिंदू, मुस्लिम सब समाज विरोधी तत्त्वों के शिकार हुए। इन तमाम स्थितियों से निबटने के लिए मानवतावादी सुधार की

आवश्यकता थी, यह काम अध्यात्म से ही संभव था। कबीर ने अपने समय और अब हमलोग भी एक दिन चले जाएँगे। उनके कहने का तात्पर्य यह है कि जीवन अल्प है। इस अवधि का सदुपयोग इस स्मरण में करना चाहिए। सांसारिक हर्ष-विषाद् को विशेष महत्त्व नहीं देना चाहिए।

पंडितों का ढोंगपूर्ण रवैया देखकर उन्हें चेतावनी देते हुए कहते हैं –

पंडित होय के आसन मारे, लंबी माला जपता है,
अंतर तेरे कपट कतरनी, सो सो भी साहब लगता है,
ऊँचा निचा महल बनाया, गहरी नेव जमाता है,
कहत कबीर सुनो भाई साधो हरि जैसे को तैसा है।

कबीर शोषणकर्ता को रोषपूर्ण आगाह करते हैं कि भगवान के दरबार में न्याय होने पर उन्हें अपने किए का फल अवश्य भुगतना पड़ेगा। दूसरी ओर निरीह जनता को वे समझाते हुए कहते हैं –

कबीर नौवति आपणी, दिन दस लेहु बजाई,
ऐ पुर पारन, एक गली, बहुरि न देखें आई।

महात्मा कबीर कहते हैं कि यह जीवन कुछ ही दिनों के लिए मिला है, अतः इसका उपयोग सार्थक ढंग से खुब आनंदपूर्वक करना चाहिए।

जो करेंगे सो भरेंगे, तू क्यों भयो उदास,
कछु लेना न देना, मगन रहना,
कहे कबीर सुनो भाई साधो,
गुरु चरण में लपटे रहना।

"महात्मा कबीर साहब संतप्त जनता को समझाते हुए कहते हैं कि कर्त्तव्य निर्विकार रूप से करो, व्यर्थ के प्रपंच में मत पड़ो, सर्वदा अपने मन को गुरु में लगाए रहो।"

जीवित ही कछु कीजै,
हरि राम रसाइन पीजै।

महात्मा कबीर दास ने पीड़ित जनता के दुख- दर्द को दूर करने के लिए "राम रसायन" का आविष्कार किया। कबीर साहब ने पहली बार जनता को उसकी विपलता में ही खुश रहने का संदेश दिया।

कबीर मध्यकाल के क्रांतिपुरुष थे। उन्होंने देश की अंदर और बाहर की परिस्थितियों पर एक ही साथ धावा बोलकर, समाज और भावलोक को जो प्रेरणा

दी, उसे न तो इतिहास भुला सकता है और न ही साहित्य इतनी बलिष्ठ रूढ़ियों पर जिस साहस और शक्ति से प्रहार किया, यह देखते ही बनता है।

संतों पांडे निपुण कसाई,
बकरा मारि भैंसा पर धावै, दिल में दर्द न आई,
आतमराम पलक में दिन से, रुधिर की नदी बहाई।

कबीर ने समाज की दुर्बलता और अद्योगति को बड़ी करुणा से देखकर, उसे ऊपर उठाने का मौलिक प्रयत्न किया। उन्होंने भय, भर्त्सना और भक्ति जैसे अस्त्रों का उपयोग राजनैतिक विभीषिकाओं और सामाजिक विषमताओं जैसे शत्रु को परास्त करने के लिए किया। कबीर साहब यह बात समझ चुके थे कि इन शत्रुओं के विनाश होने पर ही जनता का त्रण मिल सकता है, अतः उनका सारा विरोध असत्य, हिंसा और दुराग्रह से था। उनका उद्देश्य जीवन के प्रति आशा पैदा करना था।

कबीर का तू चित वे, तेरा च्यता होई,
अण च्यता हरि जो करै, जो तोहि च्यंत नहो।

महात्मा कबीर शोकग्रस्त जनता को सांत्वना देते हैं "तुम चिंता क्यों करते हो ? सारी चिंता छोड़कर प्रभु स्मरण करो।"

केवल सत्य विचारा, जिनका सदा अहार,
कहे कबीर सुनो भई साधो, तरे सहित परिवार।

कब उनके अनुसार जो सत्यवादी होता है, उसका तो भला होता ही है, साथ- साथ उसके सारे परिवार का भी भला होता है और वे लोग सुख पाते हैं। वह कहते हैं, सारे अनर्थों की जड़, असत्य और अन्याय है, इनका निर्मूल होने पर ही शुभ की कल्पना की जा सकती है। इसी अध्यात्म का सहारा लेकर हिंदू-मुस्लिम के भेद- भाव को मिटाने का प्रयत्न किया था, इसके साथ-साथ ही उन्होंने अपने नीतिपरक पदों के द्वारा जनता का मनोबल बढ़ाने का प्रयत्न किया था। इसके साथ- साथ ही उन्होंने अपने नीतिपरक पदों के द्वारा जनता का मनोबल बढ़ाने का प्रयत्न किया था। आज के परिवेश में भी इन्हीं उपायों की आवश्यकता है।

सांप्रदायिक मतभेदों या दंगों का कारण अज्ञान या नासमझी है। इस नासमझी या अज्ञान को दूर करने के लिए कबीर दास द्वारा बताए गए उपायों का प्रयोग किया जाना आवश्यक है। कबीर की वाणी ही समस्त समस्याओं का निवारण करने में समर्थ है।

ऊँच-नीच, जाति-पाति का भेद मिटाकर सबको एक समान सामाजिक स्तर देने का कार्य किया। आज के संदर्भ में भी इसी चीज की जरूरत है।

गुप्त प्रगट है एकै दुधा, काको कहिए वामन- शुद्रा
झूठो गर्व भूलो मति कोई, हिंदू तुरुक झूठ कुल दोई। ।

वर्तमान समस्याएँ चाहे सांप्रदायिक हो चाहे वैयक्तिक, सबका समुचित समाधान नैतिक मूल्य प्रस्तुत करते हैं।

कबीर दर्शन में जाति- धर्म का कोई बंधन स्वीकार नहीं है। सारे अलगाववादी विधानों को तोड़कर वह एक शुद्र मानव जाति का निर्माण करता है, इसलिए आज के संदर्भ में इसकी उपयोगिता बढ़ गई है।

जिन दिनों कबीर दास का आविर्भाव हुआ था, उन दिनों हिंदूओं में पौराणिक मत ही प्रबल था। देश में नाना प्रकार की साधनाएँ प्रचलित थी। कोई वेद का दीवाना था, तो कोई उदासी और कई तो ऐसे थे, जो दीन बनाए फिर रहा था, तो कोई दान- पुण्य में लीन था। कई व्यक्ति ऐसे थे, जो मदिरा के सेवन ही में सब कुछ पाना चाहता था तथा कुछ लोग तंत्र- मंत्र, औषधादि की करामात को अपनाए हुआ था।

इक पठहि पाठ, इक भी उदास,
इक नगन निरन्तर रहै निवास,
इक जीग जुगुति तन खनि,
इक राम नाम संग रहे लीना।

कबीर ने अपने चतुर्दिक जो कुछ भी देखा- सुना और समझा, उसका प्रचार अपनी वाणी द्वारा जोरदार शब्दों में किया –

ऐसा जो जोग न देखा भाई, भुला फिरे लिए गफिलाई
महादेव को पंथ चलावे, ऐसा बड़ो महंत कहावै॥

कबीर दास ने जब अपने तत्कालीन समाज में प्रचलित विडम्बना देखकर चकित रह गए। समाज की इस दुहरी नीति पर उन्होंने फरमाया –

पंडित देखहु मन मुंह जानी।
कछु धै छूति कहां ते उपजी, तबहि छूति तुम मानी।

समाज में छुआछूत का प्रचार जोरों पर देखकर कबीर साहब ने उसका खंडन किया। उन्होंने पाखंडी पंडित को संबोधित करके कहा कि छुआछूत की बीमारी कहाँ से उपजी।

तुम कत ब्राह्मण हम कत सूद,
हम कत लौहू तुम कत दूध,
जो तुम बाभन बाभनि जाया,
आन घाट काहे नहि आया।

महात्मा कबीर साहब ब्राह्मण का अभिमान यह कहकर तोड़ते हैं कि अगर तुम उच्च जाति के खुद को मानते हो, तो तुम किसी दूसरे मार्ग से क्यों नहीं आए ? इस प्रकार कबीर ने समाज व्यवस्था पर नुकीले एवं मर्मभेदी अंदाज से प्रहार किया। समाज में व्याप्त आडंबर, कुरीति, व्याभिचार, झूठ और पाखंड देखकर वे उत्तेजित हो जाते और चाहते कि जन- साधारण को इस प्रकार के आडम्बर एवं विभेदों से मुक्ति मिले और उनके जीवन में सुख- आनंद का संचार हो।

महात्मा कबीर के पास आध्यात्मिक ज्ञान था और इसी ज्ञान के द्वारा वे लोगों को आगाह करते थे –

आया है सो जाएगा, राजा रंक फकीर।
एक सिंहासन चढि चलें, एक बंधे जंजीर।

अपने कर्त्तव्य के अनुसार हर व्यक्ति को फल मिलना निश्चित है। हर प्राणी को यहाँ से जाना है। समाज व्याप्त कुरीतियों को दूर करने और जन- समुदाय में सुख- शान्ति लाने के लिए कबीर एक ही वस्तु को अचूक औषधि मानते हैं, वह है अध्यात्म। वे चाहते हैं कि मानव इसका सेवन नियमित रूप से करे।

महात्मा कबीर दास के सुधार का प्रभाव जनता पर बड़ी तेजी से पड़ रहा था और वह वर्ण- व्यवस्था के तंत्र को तोड़ रहे थे, उतने ही तेजी से व्यवस्था के पक्षधरों ने उनका विरोध भी किया। संत के आस- पास, तरह- तरह के विरोधों और चुनौतियों की एक दुनिया खड़ी कर दी। उन्होंने सभी चुनौतियों का बड़ी ताकत के साथ मुकाबला किया। इसके साथ ही अपनी आवाज भी बुलंद करते रहे और विरोधियों को बड़ी फटकार लगाते रहे।

तू राम न जपहि अभागी,
वेद पुरान पढ़त अस पांडे,
खर चंदन जैसे भारा,
राम नाम तत समझत नाहीं,
अति पढ़े मुखि छारा।।

इसी प्रकार कबीर अपने नीति परक, मंगलकारी सुझावों के द्वारा जनता को आगाह करते रहे ओर चेतावनी देते रहे कि मेरी बात ध्यान से सुनो और उस पर अमल करो, इससे तुम्हारा कल्याण होगा।

घर- घर हम सबसों कही, सवद न सुने हमारा।
ते भव सागर डुबना, लख चौरासी धारा॥

कबीर साहब समाज में तुरंत परिवर्तन चाहते थे। आशानुकूल परिवर्तन नहीं होते देखकर वे व्यथित हो उठते थे। उन्हें दुख होता था कि उनकी आवाज पर उनके सुझाव पर कोई ध्यान नहीं दे रहा है।

आधुनिक संदर्भ में भी यही बात कही जा सकती है। आज भी भारतीय समाज की वही स्थिति है, जो कबीर काल में थी। सामाजिक आडंबर, भेद-भाव, ऊँच- नीच की भावना आज भी समाज में व्याप्त है। व्याभिचार और भ्रष्टाचार का बाजार गर्म है। आए दिन समाचार पत्रों में आग जनी, दहेज मौत, लूट, हत्या और आत्महत्या की खबरें छपती रहती हैं।

समाज के सब स्तर पर यही स्थिति है। "राजकीय अस्पतालों में जो रोगी इलाज के लिए भर्ती होते हैं, उन्हें भर पेट भोजन और साधारण औषधि भी नहीं मिलती। इसके अलावा अस्पताल में कई तरह की अव्यवस्था और अनियमितता है।"

देश के संतों, चिंतकों तथा बुद्धिजीवियों ने बराबर इस बात की उद्घोषणा की है कि "नीति- विहीन शासन कभी सफल नहीं हो सकता। नीति और सदाचार अध्यात्म की जड़ है। देश की अवनति तथा सामाजिक दूर्व्यवस्था का मुख्य कारण यही है कि आज हम अपनी सांस्कृतिक धरोहर को भूल कर पाश्चात्य चकाचौंध की ओर आकर्षित हो गए हैं। ऊपरी आडंबर और शान-शौकत को ही मुख्य वस्तु मान कर हम अपनी शालीनता, गरिमा तथा जीवन मूल्यों को भूल गए हैं, जिसका फल है - पतन, निराशा और दुख। आज के संसार में सब कुछ उल्टा हो रहा है और इसीलिए लोग सत्य का दर्शन नहीं कर पाते। कबीर- पंथ की परंपरा में स्वामी अलखानंद लिखते हैं –

सिंह ही से स्यार लड़ाई में जीति।
साधु करे चोरि चोर को नीति।
लड्डू लेई खात स्वाद आवे तीति।
मरीच के खात स्वाद मीठ मीति।
ऐसी ही ज्ञान देखो उल्टा रीति॥

इस नाजुक परिस्थिति से आध्यात्मिकता तथा नैतिकता ही हमें उबार सकती है। कबीर- साहित्य ऐसे ही विचारों, भावनाओं और शिक्षाओं की गहराई है। उसमें अनमोल मोती गुंथे हैं। उन्होंने मानव जीवन के सभी पक्षों को स्पर्श किया है, अतः आज की स्थिति में कबीर साहित्य हमारा मार्ग दर्शन करने में पूर्ण रूप से सक्षम है।

एक बूंद से सृष्टि रची है, को ब्रह्ममन को सुद्र।
हमहुं राम का, तुमहुं राम का, राम का सब संसार॥

कबीर का उपदेश सार्वभौम, सार्वजनिक, मानवतावादी तथा विश्व कल्याणकारी है। उन्होंने सामान्य मानव धर्म अथवा समाज की प्रतिष्ठा के लिए जिस साधन का प्रयोग किया था, वह सांसारिक न होकर आध्यात्मिक था।

आधुनिक संदर्भ में कबीर का कहा गया उपदेश सभी दृष्टियों से प्रासंगिक है। जिस ज्ञान और अध्यात्म की चर्चा आज के चिंतक और संत कर रहे हैं, वही उद्घोषणा कबीर ने पंद्रहवीं शताब्दी में की थी, अतः आज भी कबीर साहित्य की सार्थकता और प्रासंगिकता बनी हुई है। आज के परिवेश में जरूरी है कि इसका प्रसार किया जाए, ताकि देश और समाज के लोग इससे लाभांवित हो सके।

सांप्रदायिक तनाव की स्थिति आज देश में सर्वाधिक चिंतनीय है। देश में संप्रदाय के नाम पर लोगों को आपस में खूब लड़ाया जाता है। राजनैतिक दल एवं राजनेता स्वयं जातिवाद या सांप्रदायवाद के प्रतीक बन गए हैं। आज हर वर्ष देश के कुछ भागों में सांप्रदायिक दंगों का भड़क जाना और सैकड़ों बेगुनाहों का खून बह जाना, सामान्य बात हो गई है।

1947 ई. में सांप्रदायिकता को आधार बनाकर देश का विभाजन कर दिया गया। यही सांप्रदायिकता की आग लगातार बढ़ती ही गई, अब तो स्थिति इतनी अधिक उत्तेजक हो गई है कि इस ओर सभी बुद्धिजीवियों और शुभ- चिंतकों का ध्यान आकृष्ट होने लगा है। प्रत्येक साल कही- न- कहीं दंगा होता रहता है। हजारों लोग हर दंगे में मारे जाते हैं। हजारों गिरफ्तारियाँ होती हैं। लाखों- करोड़ों की संपत्ति जला दी जाती है। यह सब आपसी धार्मिक मतभेदों की वजह से होता है। आवश्यकता है कि सभी धर्मों के प्रति आदर की भावना रखकर, भारत के समस्त नागरिकों को बंधुत्व की भावना सहयोगपूर्वक रहने के प्रति जागरुक किया जाए।

हिंदू तुरुक की एक राह में, सतगुरु है बताई।
कहै कबीर सुनहू हो संतों, राम न कहेउ खुदाई।।

संत महात्मा कबीर ने सांप्रदायिकता का विरोध कड़े शब्दों में किया है। कबीर साहब से अधिक जोरदार शब्दों में सांप्रदायिक एकता का प्रतिपादन किसी ने नहीं किया।

सोई हिंदू सो मुसलमान, जिनका रहे इमान।
सो ब्राह्मण जो ब्राह्म गियाला, काजी जो जाने रहमान।।

महात्मा के अनुसार सच्चा हिंदू या मुसलमान वही है, जो ईमानदार है और निष्ठापूर्वक अपने कर्त्तव्य का पालन करता है। सारे अनर्थों की जड़ यही बेईमानी है। आदमी बईमान हुआ, तब सब अनर्थ कामों की शुरुआत हो गई। आज समाज में चारों तरफ बेईमानी के कारण ही वातावरण दुखी और असहनीय हो रहा है। आज का मनुष्य एक ओर ईश्वर की पूजा करता है और दूसरी ओर मनुष्य का तिरस्कार करता है। प्रेम के महत्त्व को कबीर साहब इस प्रकार बताते हैं –

पोथी पढि- पढि जग मुआ, पंडित भया न कोय।
ढाई अच्छर प्रेम का पढ़े सो पंडित होय।।

कबीर के अनुसार प्रेम ही ऐसा तत्त्व है, जो पारस्परिक मैत्री का भाव लाता है और कटुता को समाप्त करता है।

काहि कबीर वे दूनों भूले, रामहि किन्हु न पायो।
वे खस्सी वे गाय कटावै, वादाहि जन्म गँवायो। ।
जेते औरत मरद उवासी, सो सब रूप तुम्हारा।
कबीर अल्ह राम का, सो गुरु पीर हमारा।।

हिंदू- मुस्लिम एकता के लिए कबीर के उपदेश और उनके द्वारा किया गया कार्य आज सामान्य लोगों के अंदर फैलाने और बताने आवश्यक है। कबीर ने धार्मिक रूढ़ियों, उपासना संबंधी गूढ़ मान्यताओं तथा मंदिर- मस्जिद विष्यक अंध आस्थाओं के अंतर्विरोधों को निर्ममतापूर्वक अस्वीकार कर दिया था।

हिंदू कहे वह राम हमारा, तुरुक कहे रहिमाना
सत गहे, सतगुरु को चीन्हे, सतनाम विश्वासा,
कहै कबीर साधन हितकारी, हम साधन के दासा।

वे कहते, प्रत्येक मानव को गुरु भक्ति और साधन का अभ्यास करना चाहिए। इस सत्य की प्राप्ति से सब अवरोध समाप्त हो जाते हैं।

जो सुख राम भजन में, वह सुख नहीं अमीरी में।

सुख का आधार धन- संपत्ति नहीं है। इसके अभाव में भी मानव सुख-शांति का जीवन जी सकता है।

चाह मिटी, चिंता मिटी मनवा बेपरवाह,
जिसको कुछ नहीं चाहिए वह शहनशाह।

वे कहते हैं, धरती पर सभी कष्टों की जड़ वासना है, इसके मिटते ही चिंता भी समाप्त हो जाती है और शांति स्वमेव आने लगती है। कबीर के कहने का तात्पर्य है कि पूजा- पाठ साधना कोई शुष्क चीज नहीं है, बल्कि इसमें आनंद है, तृप्ति है और साथ ही सभी समस्याओं का समाधान। इसलिए इसको जीवन में सर्वोपरि स्थान देना चाहिए। साधना के प्रति लोगों के हृदय में आकर्षण भाव लाने हेतु उन्होंने अपना अनुभव बताया।

इस घट अंतर बाग बगीचे, इसी में सिरजन हारा,
इस घट अंतर सात समुदर इसी में नौ लख तारा।

गुरु के बताए साधन पर चलकर ध्यान का अभ्यास करने को वे कहते हैं। इससे दुखों का अंत होगा और अंतर प्रकाश मिलेगा। गुरु भक्ति रखकर साधन पथ पर चलने वाले सभी लोगों को आंतरिक अनुभूति मिलती है।

कबीर का प्रेम

कंलि खोटा जग अंधेरा, शब्द न माने कोय,
जो कहा न माने, दे धक्का दुई और।

महात्मा कबीर किसी भी स्थिति में हार मानने वाले नहीं थे। वे गलत लोगों को ठीक रास्ते पर लाना चाहते थे। इसके लिए उन्हें दो-चार धक्के खाना भी पसंद था। इस प्रकार कहा जाता है कि कबीर लौह पुरुष थे। वे मानव को प्रेम को अपनाने को कहते हैं। उनका कहना है कि ईश्वर का दूसरा नाम प्रेम है। इसी तत्त्व को अपनाने पर जीवन की बहुत सारी समस्याएँ स्वतः सुलझ जाती है।

मैं कहता सुरजनहारी, तू राख्यो अरुझाई राखे

कबीर साहब सदा सीधे ढ़ग से जीवन जीने की कला बताते थे। उनका कहना था कि प्रेम के अभाव में यह जीवन नारकीय बन जाता है।

कबीर प्याला प्रेम का अंतर दिया लगाया,
रोम- रोम से रमि रम्या और अमल क्या लाय,

कबीर बादल प्रेम का हम पर वरस्या आई,
अतरि भीगी आत्मा, हरी भई बन आई।

यही "प्रेम'' सब कुछ है, जिसे पान कर कबीर धन्य हो गये। इस बादल रूपी प्रेम की वर्षा में स्नान कर कबीर की आत्मा तृप्त हो गई और उसका मन आनंद विभोर हो उठा। वे कहते हैं, प्रेम ही सर्व है। उसी के आधार पर व्यक्ति एक-दूसरे के साथ बंधुत्व की भावना को जागृत कर सकता है। आज के परिवेश में इसी बंधुत्व की भावना के प्रसार की नितांत आवश्यकता है। कबीर साहब की वाणी आज भी हमें संदेश दे रही है कि संसार में कामयाब होने का एक मात्र मार्ग धर्म और समाज की एकता है।

संत कबीर स्वयं ऐसे परिवार में जन्में थे, जो तत्कालीन समाज व्यवस्था में अस्पृश्य था। उन्होंने स्वयं वर्ण- व्यवस्था की कटुताओं को झेला था। कबीर साहब मध्यकाल में ब्राह्मण- व्यवस्था के विरुद्ध इस विद्रोह के सबसे बड़े नेता माने जाते हैं। आपने सर्वप्रथम भक्ति परंपराओं का प्रचार किया, जोकि ब्राह्मण- व्यवस्था के विरुद्ध थी। आपने जिस तरह ब्राह्मण- व्यवस्था के गढ़ में काशी में रहकर, इस व्यवस्था पर प्रहार करते रहे, यह अति सराहनीय माना जाता है। यहाँ के ब्राह्मणों ने तपस्थली को ब्राह्मण और क्षत्रियों तक ही सीमित कर दिया था। कबीर साहब ने इसके खिलाफ नया मूल्य स्थापित किया। उन्होंने वहाँ, "हरिजन सई न जाति'' भक्त से समान कोई दूसरी जाति नहीं है। उन्होंने स्पष्ट तौर पर कहा कि जो भक्त है, वह यदि अस्पृश्य है, तब भी ब्राह्मणों से श्रेष्ठ है। उन्होंने इस प्रकार भक्ति के हथियार से वर्णाश्रम अन्यायपूर्ण व्यवस्था पर प्रहार किया। वह नया मूल्य स्थापित करते हुए कहते हैं –

"जाति न पूछो साधु की पूछ लीजिए ज्ञान।
मोल करो तलवार का पड़ा रहन दो म्यान। ।"

तत्कालीन समाज व्यवस्था में जो व्यक्ति स्वयं नहीं पाता था, उसे अंग्रेज विचारक कीलिन विल्सन ने "आउट साइडर" कहा था। भक्ति काल का प्रत्येक कवि "आउट साइडर" कहलाया, क्योंकि ये कवि रूढ़ियों अन्यायपूर्ण व्यवस्थाओं एवं परंपराओं को छोड़कर चलना चाहते थे। कबीर साहब मध्य काल के ऐसे पहले कवि थे, जिन्हें "आउट साइडर" कहा गया। कबीर लोक, वेद, शास्त्र तथा मंत्र को छोड़कर चलना चाहते थे। कबीर साहब को संग्राम का योद्धा कहा जाए, तो अच्छा होगा। कबीर का मानना था कि अगर भगवान को वर्ण- विचार कहना

होता, तो वह जन्म से ही तीन विभाजक खींच देते। उत्पत्ति की दृष्टि से समस्त जीव समान है।

"जौ पै करता बरण बिचारै।
तौं जनमत तीनि डांडी किन सारे। ।
उत्पत्ति ब्यंद कहाँ थै आया, जोति धरि अरु लगी माया।
नहिं कोइ ऊँचा नहिं कोइ नीचे, जाका लंड तांही का सींचा। ।
जो तू वामन वमनीं जाया, तो आने बाट हवे काहे न आया।
जो तू तुरक तुरकनीं जाया तो भीतरि खतना क्यूनें करवाया। ।

पंडित को वह वटूक्ति सुनाते हुए कहते हैं, जैसे गधा चंदन का भार वहन करता है, पर उसकी सुगंधि से अभिमूढ नहीं होता। उसी तरह पंडित भी वेद, पुराण पढ़कर राम नाम के वास्तविक तत्त्व नहीं पाता।

पांडे कौन कुमति तोहि लगि, तू राम न जपहि आभागा।
वेद पुराण पढ़त अस पांडे, खर चंदन जैसे भारा। ।
राम नाम तत समझत नाहीं, अति अरे मुखि धारा।
वेद पढता का यह फल पाडै राबधटि देखौ रामा। ।

कबीर के अनुसार ब्राह्मण को तत्त्वानुभव नहीं होने के कारण उसकी बात कोई नहीं मानता है।

पंडित संति कहि रहे, कहा न मानै कोई।
ओ अशाध एका कहै, भारी अचिरज होई। ।

कबीर साहब ब्राह्मण को जाति- पाति बाँटने का जिम्मेदार मानते हुए कहते हैं कि ब्राह्मण का ज्ञान बासी है और उसका व्यक्तित्त्व पाखंडपूर्ण है –

लिखा लिखी की है नहीं, देखा देखी बात।
दुल्हा- दुल्हिन मिल गए, फीको पड़ी बारात।

तत्कालीन ब्राह्मण समाज के लोला ज्ञान पर प्रहार करते हुए वे कहते हैं–

चार यूं वेद पढ़ाई करि, हरि सूंन लाया हेत।
बाँलि कबीरा ले गया, पंडित ढूँढै खेत। ।

कबीर के अनुसार मनुष्य जन्म से समान है, लेकिन समाज ने उसे रूढ़ियों में जकड़ लिया है तथा भाँति- भाँति की क्यारियाँ गढ़ ली गई है। इस प्रकार एक क्यारी का बिखरा, दूसरी क्यारी में नहीं जा सकता है, इस प्रकार कवि जातिवाद और छुआ- छूत सबको पाखंड मानते हैं और कहते हैं –

पाड़ोसी सू रुसणां, तिल- तिल सुख की होणि।
पंडित भए सरखगी, पाँणी पीवें छाँणि॥

पंडित सरावगी हो गए हैं और पानी को छान कर पीने लगे हैं, अर्थात् वे ढ़ोंग करते हैं और दूसरे के धर्म की अनावश्यक नुक्ता- चीनी और छान- बीन करते रहते हैं। आपके अनुसार पंडित का गोरख धंधा बटमारी और डकैती है। पंडित ने इस संसार को पाषाण- मूर्तियों से भर दिया है और इसी के आधार पर पैसा कमाता है।

काजल केरि कोठरी, मसिके कर्म कपाट।
पाहनि बोई पृथमी, पंडित पाड़ी बाट॥

कबीर साहब जात- पात की तुलना में कर्म को श्रेष्ट मानते हैं –

ऊँचे कुल क्या जनमियाँ, जेकरणी उँच न होई
सोवन कलस सुरै भरया, साधू निंधा सोई॥

अपनी पूरी जिंदगी में कबीर ने सामाजिक कुरीतियों के झाड़- झंखाड़ को साफ करने और उच्चतर मानव का पथ प्रशस्त करने का प्रयास किया।

कबीर साहब का भक्ति में अत्याधिक विश्वास था। भक्ति से युक्त व्यक्ति न तो ब्राह्मण होता है और न चांडाल, बल्कि वह सिर्फ भक्त होता है। कबीर साहब ने समाज के आपसी मतभेद को मिटाकर इस प्रकार का संदेश दिया है, जैसे हल्दी पीली होती है और चूना श्वेत, पर दोनों मिलकर अपना रंग मिलाकर लाल रंग की होली में परिणत हो जाते हैं –

कबीर हरदी पीयरी, चुना उजल भाय।
राम सनेही यूँ मिले, दन्यूं बस गमाय॥

कबीर की उपर्युक्त रमैनी के अनुसार, राम के भक्त विभिन्न जातियों का परित्याग कर एकाकार हो जाते हैं और वे अपने विभिन्न सांप्रदायिक भाव ईश्वर प्रेम की लालिमा में समाहित कर देते हैं। इस प्रकार काबा और काशी या राम और रहीम का भेद मिट जाता है, सब एक ही हो जाते हैं –

कावा फिर काशी भया, राम भया रहीम।
मोठ चून मैदा भया, बैठो कबीरा जीम॥

इस प्रकार कबीर साहब भक्ति के द्वारा सामाजिक पाथेवय को मिटाते हैं और मन के विधान का अतिक्रमण करने का उपदेश देते हैं।

कबीर साहब निरक्षर थे। उन्होंने अपने निरक्षर होने के संबंध में स्वयं 'कबीर- बीजक' की एक साखी में बताया है। जिसमें कहा गया है कि न तो

मैंने लेखनी हाथ में लिया, न कभी कागज और स्याही का ही स्पर्श किया। चारों युगों की बातों को उन्होंने केवल अपने मुँह द्वारा जता दिया है –

मसि कागद छूयो नहीं, कलम गही नहिं हाथ।
चारिक जुग को महातम, मुखहिं जनाई बात॥

संत मत के समस्त कवियों में, कबीर सबसे अधिक प्रतिभाशाली एवं मौलिक माने जाते हैं। उन्होंने कविताएँ प्रतिज्ञा करके नहीं लिखी और न उन्हें पिंगल और अलंकारों का ज्ञान था। लेकिन उन्होंने कविताएँ इतनी प्रबलता एवं उत्कृष्टता से कही है कि वे सरलता से महाकवि कहलाने के अधिकारी हैं। उनकी कविताओं में संदेश देने की प्रवृत्ति प्रधान है। ये संदेश आने वाली पीढ़ियों के लिए प्रेरणा, पथ- प्रदर्शन तथा संवेदना की भावना सन्निहित है। अलंकारों से सुसज्जित न होते हुए भी आपके संदेश काव्यमय हैं। तात्विक विचारों को इन पद्यों के सहारे सरलतापूर्वक प्रकट कर देना ही आपका एक मात्र लक्ष्य था –

तुम्ह जिन जानों गीत हे यहु निज ब्रह्म विचार
केवल कहि समझाता, आतम साधन सार रे॥

कबीर भावना की अनुभूति से युक्त, उत्कृष्ट रहस्यवादी, जीवन का संवेदनशील संस्पर्श करनेवाले तथा मर्यादा के रक्षक कवि थे। आप अपनी काव्य कृतियों के द्वारा पथभ्रष्ट समाज को उचित मार्ग पर लाना चाहते थे।

हरि जी रहे विचारिया साखी कहो कबीर।
यौ सागर में जीव हैं जे कोई पकड़ै तीर॥

कवि के रूप में कबीर जीव के अत्यंत निकट हैं। उन्होंने अपनी रचनाओं में सहजता को प्रमुख स्थान दिया है। सहजता उनकी रचनाओं की सबसे बड़ी शोभा और कला की सबसे बड़ी विशेषता मानी जाती है। उनके काव्य का आधार यथार्थ है। उन्होंने स्वयं स्पष्ट रूप से कहा है कि मैं आँख का देखा हुआ कहता हूँ और तू कागज की लेखी कहता है –

मैं कहता हूँ आखिन देखी,
तू कहता कागद की लेखी।

वे जन्म से विद्रोही, प्रकृति से समाज- सुधारक एवं प्रगतिशील दार्शनिक तथा आवश्यकतानुसार कवि थे। उन्होंने अपनी काव्य रचनाएँ इस प्रकार कही है कि उसमें आपके व्यक्तित्त्व का पूरा- पूरा प्रतिबिंब विद्यमान है।

कबीर की प्रतिपाद्य शैली को मुख्य रूप से दो भागों में बाँटा गया है – इनमें प्रथम रचनात्मक, द्वितीय आलोचनात्मक। रचनात्मक विषयों के अंतर्गत

सतगुरु, नाम, विश्वास, धैर्य, दया, विचार, औदार्य, क्षमा, संतोष आदि पर व्यावहारिक शैली में भाव व्यक्त किया गया है। दूसरे पक्ष में वे आलोचक, सुधारक, पथ- प्रदर्शक और समन्वयकर्ता के रूप में दृष्टिगत होते हैं। इस पक्ष में उन्होंने चेतावनी, भेष, कुसंग, माया, मन, कपट, कनक, कामिनी आदि विषयों पर विचार प्रकट किये हैं।

काव्यरूप एवं संक्षिप्त परिचय

कबीर की रचनाओं के बारें में कहा जाता है कि संसार के वृक्षों में जितने पत्ते हैं तथा गंगा में जितने बालू- कण हैं, उतनी ही संख्या उनकी रचनाओं की है –

जेते पत्र वनस्पति औ गंगा की रेन।
पंडित विचारा का कहै, कबीर कही मुख वैन।।

विभिन्न समीक्षकों तथा विचारकों ने कबीर के विभिन्न संग्रहों का अध्ययन करके निम्नलिखित काव्यरूप पाये हैं –

1. साखी
2. पद
3. रमेनी
4. चौंतीसा
5. बावनी
6. विप्रमतीसी
7. वार
8. थिंती
9. चाँवर
10. बसंत
11. हिंडोला
12. बेलि
13. कहरा
14. विरहुली
15. उल्टवाँसी

साखी

साखी रचना की परंपरा का प्रारंभ गुरु गोरखनाथ तथा नामदेव जी के समय से प्राप्त होता है। साखी काव्यरूप के अंतर्गत प्राप्त होने वाली, सबसे प्रथम रचना गोरखनाथ की जोगेश्वरी साखी है। कबीर की अभिव्यंजना शैली बड़ी शक्तिशाली है। प्रतिपाद्य के एक- एक अंग को लेकर इस निरक्षर कवि ने सैंकड़ों साखियों की रचना की है। प्रत्येक साखी में अभिनवता को बड़ी कुशलता से प्रकट किया गया है। उन्होंने इसका प्रयोग नीति, व्यवहार, एकता, समता, ज्ञान और वैराग्य आदि की बातों को बताने के लिए किया है। अपनी साखियों में कबीर ने दोहा छंद का प्रयोग सर्वाधिक किया है।

कबीर की साखियों पर गोरखनाथ और नामदेव जी की साखी का प्रभाव दिखाई देता है। गोरखनाथ की तरह ही कबीर ने भी अपनी सखियों में दोहा जैसे छोटे छंदों में अपने उपदेश दिये।

संत कबीर की रचनाओं में साखियाँ सर्वाधिक पायी जाती है। कबीर बीजक में 353 साखियाँ, कबीर ग्रंथावाली में 919 साखियाँ हैं। आदिग्रंथ में साखियों की संख्या 243 है, जिन्हें श्लोक कहा गया है।

प्राचीन धर्म प्रवर्तकों के द्वारा, साखी शब्द का प्रयोग किया गया। ये लोग जब अपने गुरुजनों की बात को अपने शिष्यों अथवा साधारणजनों को कहते, तो उसकी पवित्रता को बताने के लिए साखी शब्द का प्रयोग किया करते थे। वे साखी देकर, यह सिद्ध करना चाहते थे कि इस प्रकार की दशा का अनुभव अमुक- अमुक पूर्ववर्ती गुरुजन भी कर चुके है, अतः प्राचीन धर्म प्रवर्तकों द्वारा प्रतिपादित ज्ञान को शिष्यों के समक्ष, साक्षी रूप में उपस्थित करते समय जिस काव्यरूप का जन्म हुआ, वह साखी कहलाया।

संत कबीर की साखियाँ, निर्गुण साक्षी के साक्षात्कार से उत्पन्न भावोन्मत्तता, उन्माद, ज्ञान और आनंद की लहरों से सराबोर है। उनकी साखियाँ ब्रह्म विद्या बोधिनी, उपनिषदों का जनसंस्करण और लोकानुभव की पिटारी है। इनमें संसार की असारता, माया मोह की मृग- तृष्णा, कामक्रोध की क्रूरता को भली- भांति दिखाया गया है। ये सांसारिक क्लेश, दुख और आपदाओं से मुक्त कराने वाली जानकारियों का भण्डार है। संत कबीर के सिद्धांतों की जानकारी का सबसे उत्तम साधन उनकी साखियाँ हैं।

साखी आंखी ग्यान को समुझि देखु मन माँहि
बिन साखी संसार का झगरा छुटत नाँहि॥

विषय की दृष्टि से कबीर साहब की साखियों को मुख्यतः दो भागों में विभाजित किया गया है –

1. लौकिक भाव प्रधान
2. परलौकिक भाव प्रधान

लौकिक भाव प्रधान साखियाँ भी तीन प्रकार की है –

1. संतमत स्वरूप बताने वाली
2. पाखण्डों का विरोध करने वाली
3. व्यवहार प्रधान

संत मत का स्वरूप बताने वाली साखियाँ –

कबीर साहब ने अपनी कुछ साखियों में संत और संत मत के संबंध में अपने विचार प्रकट किए हैं –

निर बेरी निहकामता साई सेती नेह।
विषिया सूँन्यारा रहे संतरि को अंग एह।।

कबीर साहब की दृष्टि में संत का लक्ष्य धन संग्रह नहीं है –

सौंपापन कौ मूल है एक रुपैया रोक।
साधू है संग्रह करै, हारै हरि सा थोक।
संत व बांधै गाँठरी पेट समाता लेई।
आगे पीछे हरि खड़े जब माँगै तब दई।

संत अगर निर्धन भी हो, तो उसे मन छोटा करने की आवश्यकता नहीं है–

सठगंठी कोपीन है साधू न मानें संक।
राम अमल माता रहे गिठों इंद्र को रंक।

कबीर साहब परंपरागत रूढ़ियों, अंधविश्वासों, मिथ्या प्रदर्शनों एवं अनुपयोगी रीति– रिवाजों के कट्टर विरोधी थे। उन्होंने हिंदू– मुसलमान दोनों में ही फैली हुई कुरीतियों का विरोध अपनी अनेक साखियों में किया है।

व्यवहार प्रधान साखियाँ

कबीर साहब की व्यवहार प्रधान साखियाँ, नीति और उपदेश प्रधान है। इसमें संसभू के प्रत्येक क्षेत्र में उचित व्यवहार की रीति बताई गई हैं। इन साखियों में मानव मात्र के कल्याणकारी अनुभव का अमृत छिपा हुआ है। पर निंदा, असत्य, वासना, धन, लोभ, क्रोध, मोह, मदमत्सर, कपट आदि का निषेध

करके, वे सहिष्णुता, दया, अहिंसा, दान, धैर्य, संतोष, क्षमा, समदर्शिता, परोपकार तथा मीठे वचन आदि के लिए आग्रह किया गया है। वे त्याज्य कुकर्मों को गिना कर बताते हैं –

गुआ, चोरी, मुखबरी, व्याज, घूस, परमान।
जो चाहे दीदार को एती वस्तु निवार॥

विपत्ति में धैर्य धारण करने के लिए कहते है –

देह धरे का दंड है सब काहू पै होय।
ज्ञानी भुगतै ज्ञानकरि मूरख भुगतै रोय॥

वह अपनी में बाबू संयम पर बल देते हुए कहते हैं –

ऐसी बानि बोलिए मन का आपा खोय।
ओख को सीतल करै, आपहु सीतल होय।

पारलौकिक भाव प्रधान साखियाँ

संत कबीर साहब ने इस प्रकार की अपनी साखियों में नैतिक, आध्यात्मिक, सांसारिक, परलौकिक इत्यादि विषयों का वर्णन किया है।

कुछ साखियाँ –

राम नाम जिन चीन्हिया, झीना पं तासु।
नैन न आवै नींदरी, अंग न जायें मासु।
बिन देखे वह देसकी, बात कहे सो कूर।
आपुहि खारी खात है, बैचत फिरे कपूर।

पद (शब्द)

संत कबीर ने अपने अनुभवों, नीतियों एवं उपदेशों का वर्णन, पदों में भी किया है। पद या शब्द भी एक काव्य रूप है, जिसको प्रमुख दो भागों में बाँटा गया है –

1. लौकिक भाव प्रधान
2. परलौकिक भाव प्रधान

लौकिक भाव प्रधान पदों में सांसारिक भावों एवं विचारों का वर्णन किया गया है। इनको भी दो भागों में विभाजित किया गया है –

1. धार्मिक पाखण्डों का खंडन करने वाले पद।
2. उपदेशात्मक और नीतिपरक पद।

संत कबीर जातिवाद, ऊँच- नीच की भावना एवं दिखावटी धार्मिक क्रिया- कलापों के घोर विरोधी थे। उन्होंने विभिन्न धर्मों की प्रचलित मान्यताओं तथा उपासना पद्धतियों की अलग- अलग आलोचना की है। वे वेद और कुरान के वास्तविक ज्ञान और रहस्य को जानने पर बल देते हैं –

वेद कितेब कहौ झूठा।
झूठा जो न विचारै। ।
झंखत बकत रहहु निसु बासर, मति एकौ नहिं जानी।
सकति अनुमान सुनति किरतु हो, मैं न बदौगा भाई। ।
जो खुदाई तेरि सुनति सुनति करतु है, आपुहि कटि कयों न आई।
सुनति कराय तुरुक जो होना, औरति को का कहिये। ।

रमैनी

रमैनी भी संत कबीर द्वारा गाया गया काव्यरूप है। इसमें चौपाई दो छंदों का प्रयोग किया गया है। रमैनी कबीर साहब की सैद्धांतिक रचनाएँ हैं। इसमें परमतत्त्व, रामभक्ति, जगत और ब्रह्म इत्यादि के बारे में विस्तारपूर्वक विचार किया गया है।

जस तू तस तोहि कोई न जान। लोक कहै सब आनाहि आना।
वो है तैसा वोही जाने। ओही आहि आहि नहिं आने।।

संत कबीर राम को सभी अवतारों से परे मानते हैं –

ना दसरथ धरि औतरि आवा।
ना लंका का राव सतावा। ।
अंतर जोति सबद एक नारी। हरि ब्रह्मा ताके त्रिपुरारी। ।
ते तिरिये भग लिंग अनंता। तेउ न जाने आदि औ अंतर। ।

एक रमैनी में वे मुसलमानों से प्रश्न पूछते हैं–

दर की बात कहाँ दरबेसा। बादशाह है कवने भेष।
कहां कंच कहँ करै मुकाया। मैं तोहि पूंछा मुसलमाना। ।
लाल गरेद की नाना बना। कवर सुरहि को करहु सलाया। ।
काजी काज करहु तुम कैसा। घर- घर जबह करवाहु भैसा। ।

चौंतीसा

चौंतीसा नामक काव्यरूप केवल 'कबीर बीजक' में ही प्रयोग किया गया है। इसमें देवनागरी वर्णमाला के स्वरों को छोड़कर, केवल व्यंजनों के आधार पर रचनाएँ की गई हैं –

पापा पाप करै सम कोई। पाप के करे धरम नहिं होई।
पापा करै सुनहु रे भाई। हमरे से इन किछवो न पाई।
जो तन त्रिभुवन माहिं छिपावै। तत्तहि मिले तत्त सो पावै।
थाथा थाह थाहि नहिं जाई। इथिर ऊथिर नाहिं रहाई।

बावनी

बावनी वह काव्यरूप है, जिसकी द्विपदियों का प्रारंभ नागरी लिपि के बावन वर्णों में से प्रत्येक के साथ क्रमशः होता है। बावनी को इसके संगीतनुसार गाया जाने का रिवाज पाया जाता है। विषय की दृष्टि से यह रचनाएँ आध्यात्मिकता से परिपूर्ण ज्ञात होता है।

ब्राह्मण होके ब्रह्म न जानै। घर महँ जग्य प्रतिग्रह आनै
जे सिरजा तेहि नहिं पहचानैं। करम भरम ले बैठि बखानै।
ग्रहन अमावस अवर दुईजा।
सांती पांति प्रयोजन पुजा। ।

विप्रमतीसी

विप्रमतीसी नामक काव्य रूप भी केवल 'कबीर बीजक' में पाया जाता है। इसमें ब्राह्मणों के दपं तथा मिथ्याभिमान की आलोचना की गई है। इसका संबंध विप्रमति (ब्राह्मणों की बुद्धि) से बताया जाता है।

ब्राह्मणों की मति की आलोचना करने के लिए, तीस पंक्तियों में गठित काव्यरूप को विप्रमतीसी कहा गया है।

वार

सप्ताह के सातों वारों (दिनों) के नामों को क्रमशः लेकर, की गई उपदेशात्मक रचनाओं वालें काव्यरूप को 'वार' कहा गया है। इस काव्य रूप की रचना केवल आदिग्रंथ में ही प्राप्त होती है।

थिंती

इस काव्य रूप का प्रयोग तिथियों के अनुसार छंद रचना करके साधना की बातें बताने के लिए किया गया है। संत कबीर का यह काव्य रूप भी केवल आदिग्रंथ में पाया जा सकता है।

चाँचर

चाँचर बहुत प्राचीन काल से प्रचलित काव्यरूप है। कालीदास तथा बाणभट्ट की रचनाओं में चर्चरी गान का उल्लेख मिलता है। प्राचीन काल में इसको चर्चरी या चाँचरी कहा जाता था। संत कबीर ने भी अपनी रचनाओं में इसको अपनाया है। 'कबीर बीजक' में यह काव्यरूप प्राप्त होता है। कहा जाता है कि कबीर के समय में इसका पूर्ण प्रचलन था। कबीर ने इसका प्रयोग आध्यात्मिक उपदेशों को साधारण जन को पहुँचनें के लिए किया है।

जारहु जगका नेहरा, मन का बौहरा हो।
जामें सोग संतान, समुझु मन बोरा हो।
तन धन सों का गर्वसी, मन बोरा हो।
भसम- किरिमि जाकि, समुझु मन बौरा हो।
बिना मेवका देव धरा, मन बौरा हो।
बिनु करगिल की इंट, समुझु मन बौरा हो।

बसंत

संत कबीर साहब का एक अन्य काव्यरूप बसंत है। 'बीजक', 'आदिग्रंथ' और 'कबीर ग्रंथावली' तीनों में इसको देखा जा सकता है। बसंत घ्तु में, अभितोल्लास के साथ गाई जाने वाली पद्यों को फागु, धमार, होली या बसंत कहा जाता है। लोकप्रचलित काव्यरूप को ग्रहण कर, अपने उद्देश्य को जनसाधारण तक पहुँचाने के लिए किया है। एक पत्नी अपने पति की प्रशंसा करते हुए कहती है –

भाई मोर मनुसा अती सुजान, धद्य कुटि- कुटि करत बिदान।
बड़े भोर उठि आंगन बाढ़ु, बड़े खांच ले गोबर काढ़
बासि- भात मनुसे लीहल खाय, बड़ धोला ले पानी को गाय
अपने तृंया बाधों पाट, ले बेचौंगी हाटे हाट
कहँहि कबीर ये हरिक काज, जोइया के डिंग रहिकवनि लाज

हिंडोला

सावन के महीने में महिलाएँ हिंडोला झुलने के साथ- साथ, गीत भी गाती हैं। इसी गीत को अनेक स्थानों पर हिंडोला के नाम से जाना जाता है। संत कबीर ने इसी जनप्रचलित काव्यरूप को अपने ज्ञानोपदेश का साधन बनाया है। वह पूरे संसार को एक हिंडोला मानते हैं। वे इस प्रकार वर्णन करते हैं –

भ्रम का हिंडोला बना हुआ है। पाप पुण्य के खंभे हैं। माया ही मेरु हैं, लोभ का मरुषा है विषय का भंवरा, शुभ- अशुभ की रस्सी तथा कर्म की पटरी लगी हुई है। इस प्रकार कबीर साहब समस्त सृष्टि को इस हिंडोले पर झुलते हुए दिखाना चाहते हैं –

भरम- हिंडोला ना, झुलै सग जग आय।
पाप- पुण्य के खंभा दोऊ मेरु माया मोह।
लोभ मरुवा विष भँवरा, काम कीला ठानि।
सुभ- असुभ बनाय डांडी, गहैं दोनों पानि।
काम पटरिया बैठिके, को कोन झुलै आनि।
झुले तो गन गंधर्व मुनिवर, झुलै सुरपति इंद
झुलै तो नारद सारदा, झुलै व्यास फनींद।

बेलि

संत कबीर की बेलि उपदेश प्रधान काव्यरूप है। इसके अंतर्गत सांसारिक मोह ममता में फँसे जीव को उपदेश दिया गया है। 'कबीर बीजक' में दो रचनाएँ बेलि नाम से जानी जाती है। इसकी पंक्ति के अंत में 'हो रमैया राम' टेक को बार- बार दुहराया गया है।

कबीर साहब की एक बेलि –
हंसा सरवर सरीर में, हो रमैया राम।
जगत चोर घर मूसे, हो रमैया राम।
जो जागल सो भागल हो, रमैया राम।
सावेत गेल बिगोय, हो रमैया राम।

कहरा

कहरा काव्यरूप में क्षणिक संसार के मोह को त्याग कर राम का भजन करने पर बल दिया जाता है। इसके अंतर्गत यह बताया जाता है कि राम के

अतिरिक्त अन्य देवी- देवताओं की पूजा करना व्यर्थ है। यह कबीर की रचनाओं का जन- प्रचलित रूप है –

रामनाम को संबहु बीरा, दूरि नाहिं दूरि आसा हो।
और देवका पूजहु बौरे, ई सम झूठी आसा हो।
उपर उ कहा भौ बौरे, भीटर अजदूँ कारो हो।
तनके बिरघ कहा भौ वौरे, मनुपा अजहूँ बारो हो।

बिरहुली

बिरहुली का अर्थ सर्पिणी है। यह शब्द बिरहुला से बना है, जिसका अर्थ सर्प होता है। यह शब्द लोक में सर्प के विष को दूर करने वाले गायन के लिए प्रयुक्त होता था। यह गरुड़ मंत्र का प्राकृत नाम है। गाँव में इस प्रकार के गीतों को बिरहुली कहा जाता है। कबीर साहब की बिरहुली में विषहर और बिरहुली दोनों शब्दों का प्रयोग किया गया है। मनरूपी सर्प के डस लेने पर कबीर ने बिरहुली कहा –

आदि अंत नहिं होत बिरहुली। नहिं जरि पलौ पेड़ बिरहुली।
निसु बासर नहिं होत बिरहुली। पावन पानि नहिं भूल बिरहुली।
ब्रह्मादिक सनकादि बिरहुली। कथिगेल जोग आपार बिरहुली।
बिषहा मंत्र ने मानै बिरहुली। गरुड़ बोले आपार बिरहुली।

उल्टवाँसी

बंधी-बधाई विशिष्ट अभिव्यंजना शैली के रूप में, उल्टवाँसी भी एक काव्यरूप है। इसमें आटयात्मिक बातों का लोक विपरीत ढ़ंग से वर्णन किया जाता है। इसमें वक्तव्य विषय को प्रस्तुत करने का एक विशेष ढ़ंग होता है –

तन खोजै तब पावै रे।
उल्टी चाल चले गे प्राणी, सो सरजै घर आवेरो
धर्म विरोध संबंधी उल्टवाँसिया:
अम्बर बरसै धरती भीजे, यहु जानैं सब कोई।
धरती बरसे अम्बर भीजे, बूझे बिरला कोई।
मैं सामने पीव गोहनि आई।
पंच जना मिलिमंडप छायौ, तीन जनां मिलि लगन लिखाई।

सामान्य रूप में कबीर साहब ने जन- प्रचलित काव्यरूप को अपनाया है। जन- प्रचलित होने के कारण ही सिंहों, माथों, संतों और भक्तों के द्वारा इनको ग्रहण किया गया।

विचारों और भक्तों के साथ ही, काव्यरूपों के क्षेत्र में भी कबीर साहब को आदर्श गुरु तथा मार्गदर्शक माना गया है। परवर्ती संतों तथा भक्तों ने उनके विचारों और भावों के साथ- साथ काव्यरूपों को भी अपनाया। कबीर साहब ने इन काव्यरूपों को अपना करके महान और अमर बना दिया।

कबीर के काव्य में दाम्पत्य एवं वात्सल्य के द्योतक प्रतीक पाये जाते हैं। उनकी रचनाओं में सांकेतिक, प्रतीक, पारिभाषिक प्रतीक, संख्यामूलक प्रतीक, रूपात्मक प्रतीक तथा प्रतीकात्मक उल्टवाँसियों के सुंदर उदाहरण पाए जाते हैं।

2

कबीर का जीवन परिचय

संत कबीरदास हिंदी साहित्य के भक्ति काल के इकलौते ऐसे कवि हैं, जो आजीवन समाज और लोगों के बीच व्याप्त आडंबरों पर कुठाराघात करते रहे। वह कर्म प्रधान समाज के पैरोकार थे और इसकी झलक उनकी रचनाओं में साफ झलकती है। लोक कल्याण हेतु ही मानो उनका समस्त जीवन था। कबीर को वास्तव में एक सच्चे विश्व - प्रेमी का अनुभव था। कबीर की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि उनकी प्रतिभा में अबाध गति और अदम्य प्रखरता थी। समाज में कबीर को जागरण युग का अग्रदूत कहा जाता है।

जन्म

कबीरदास के जन्म के संबंध में अनेक किंवदन्तियाँ हैं। कबीर पन्थियों की मान्यता है कि कबीर का जन्म काशी में लहरतारा तालाब में उत्पन्न कमल के मनोहर पुष्प के ऊपर बालक के रूप में हुआ। कुछ लोगों का कहना है कि वे जन्म से मुसलमान थे और युवावस्था में स्वामी रामानंद के प्रभाव से उन्हें हिन्दू धर्म की बातें मालूम हुई। एक दिन, एक पहर रात रहते ही कबीर पंचगंगा घाट की सीढ़ियों पर गिर पड़े। रामानन्द जी गंगा स्नान करने के लिये सीढ़ियाँ उतर रहे थे कि तभी उनका पैर कबीर के शरीर पर पड़ गया। उनके मुख से तत्काल 'राम-राम' शब्द निकल पड़ा। उसी राम को कबीर ने दीक्षा-मन्त्र मान लिया और रामानन्द जी को अपना गुरु स्वीकार कर लिया। कबीर के ही शब्दों में-

हम कासी में प्रकट भये हैं,
रामानन्द चेताये।

कबीरपंथियों में इनके जन्म के विषय में यह पद्य प्रसिद्ध है–

चौदह सौ पचपन साल गए, चन्द्रवार एक ठाठ ठए।
जेठ सुदी बरसायत को पूरनमासी तिथि प्रगट भए॥
घन गरजें दामिनि दमके बूँदे बरषें झर लाग गए।
लहर तालाब में कमल खिले तहँ कबीर भानु प्रगट भए॥

जन्मस्थान

कबीर के जन्मस्थान के संबंध में तीन मत हैं–मगहर, काशी और आजमगढ़ में बेलहरा गाँव।

मगहर के पक्ष में यह तर्क दिया जाता है कि कबीर ने अपनी रचना में वहाँ का उल्लेख किया है–'पहिले दरसन मगहर पायो पुनि कासी बसे आई' अर्थात् काशी में रहने से पहले उन्होंने मगहर देखा। मगहर आजकल वाराणसी के निकट ही है और वहाँ कबीर का मकबरा भी है।

कबीर का अधिकांश जीवन काशी में व्यतीत हुआ। वे काशी के जुलाहे के रूप में ही जाने जाते हैं। कई बार कबीरपंथियों का भी यही विश्वास है कि कबीर का जन्म काशी में हुआ। किंतु किसी प्रमाण के अभाव में निश्चयात्मकता अवश्य भंग होती है।

बहुत से लोग आजमगढ़ जिले के बेलहरा गाँव को कबीर साहब का जन्मस्थान मानते हैं।

वे कहते हैं कि 'बेलहरा' ही बदलते-बदलते लहरतारा हो गया। फिर भी पता लगाने पर न तो बेलहरा गाँव का ठीक पता चला पाता है और न यही मालूम हो पाता है कि बेलहरा का लहरतारा कैसे बन गया और वह आजमगढ़ जिले से काशी के पास कैसे आ गया ? वैसे आजमगढ़ जिले में कबीर, उनके पंथ या अनुयायियों का कोई स्मारक नहीं है।

माता-पिता

कबीर के माता- पिता के विषय में भी एक राय निश्चित नहीं है। 'नीमा' और 'नीरु' की कोख से यह अनुपम ज्योति पैदा हुई थी, या लहर तालाब के समीप विधवा ब्राह्मणी की पाप- संतान के रूप में आकर यह पतितपावन हुए

थे, ठीक तरह से कहा नहीं जा सकता है। कई मत यह है कि नीमा और नीरु ने केवल इनका पालन- पोषण ही किया था। एक किवदंती के अनुसार कबीर को एक विधवा ब्राह्मणी का पुत्र बताया जाता है, जिसको भूल से रामानंद जी ने पुत्रवती होने का आशीर्वाद दे दिया था।

एक जगह कबीर ने कहा है –

'जाति जुलाहा नाम कबीरा
बनि बनि फिरो उदासी। '

कबीर के एक पद से प्रतीत होता है कि वे अपनी माता की मृत्यु से बहुत दुःखी हुए थे। उनके पिता ने उनको बहुत सुख दिया था। वह एक जगह कहते हैं कि उसके पिता बहुत 'गुसाई' थे। ग्रंथ साहब के एक पद से विदित होता है कि कबीर अपने वयनकार्य की उपेक्षा करके हरिनाम के रस में ही लीन रहते थे। उनकी माता को नित्य कोश घड़ा लेकर लीपना पड़ता था। जबसे कबीर ने माला ली थी, उसकी माता को कभी सुख नहीं मिला। इस कारण वह बहुत खीज गई थी। इससे यह बात सामने आती है कि उनकी भक्ति एवं संत- संस्कार के कारण उनकी माता को कष्ट था।

बचपन

कबीरदास का लालन-पालन जुलाहा परिवार में हुआ था, इसलिए उनके मत का महत्त्वपूर्ण अंश यदि इस जाति के परंपरागत विश्वासों से प्रभावित रहा हो तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। यद्यपि 'जुलाहा' शब्द फारसी भाषा का है, तथापि इस जाति की उत्पत्ति के विषय में संस्कृत पुराणों में कुछ-न-कुछ चर्चा मिलती ही है। ब्रह्मवैवर्त पुराण के ब्रह्म खंड के दसवें अध्याय में बताया गया है कि म्लेच्छ से कुविंदकन्या में 'जोला' या जुलाहा जाति की उत्पत्ति हुई है। अर्थात् म्लेच्छ पिता और कुविंद माता से जो संतति हुई वही जुलाहा कहलाई।

जुलाहा

जुलाहे मुसलमान है, पर इनसे अन्य मुसलमानों का मौलिक भेद है। सन् 1901 की मनुष्य-गणना के आधार पर रिजली साहब ने 'पीपुल्स ऑफ इंडिया' नामक एक ग्रंथ लिखा था। इस ग्रंथ में उन्होंने तीन मुसलमान जातियों की तुलना की थी। वे तीन हैं– सैयद, पठान और जुलाहे। इनमें पठान तो भारतवर्ष में सर्वत्र फैले हुए हैं पर उनकी संख्या कहीं भी बहुत अधिक नहीं है। जान पड़ता है कि

बाहर से आकर वे नाना स्थानों पर अपनी सुविधा के अनुसार बस गए। पर जुलाहे पंजाब, उत्तर प्रदेश, बिहार और बंगाल में ही पाए जाते हैं। जिन दिनों कबीरदास इस जुलाहा-जाति को अलंकृत कर रहे थे उन दिनों, ऐसा जान पड़ता है कि इस जाति ने अभी एकाध पुश्त से ही मुसलमानी धर्म ग्रहण किया था। कबीरदास की वाणी को समझने के लिए यह निहायत जरूरी है कि हम इस बात की जानकारी प्राप्त कर ले कि उन दिनों इस जाति के बचे-कुचे पुराने संस्कार क्या थे।

उत्तर भारत के वयनजीवियों में कोरी मुख्य हैं। बेन्स जुलाहों को कोरियों की समशील जाति ही मानते हैं। कुछेक पंडितों ने यह भी अनुमान किया है कि मुसलमानी धर्म ग्रहण करने वाले कोरी ही जुलाहे हैं। यह उल्लेख किया जा सकता है कि कबीरदास जहाँ अपने को बार-बार जुलाहा कहते हैं,

1. जाति जुलाहा मति कौ धीर। हरषि गुन रमै कबीर।
2. तू ब्राह्मन मैं काशी का जुलाहा।

वहाँ कभी-कभी अपने को कोरी भी कह गए हैं। ऐसा जान पड़ता है कि यद्यपि कबीरदास के युग में जुलाहों ने मुसलमानी धर्म ग्रहण कर लिया था पर साधारण जनता में तब भी कोरी नाम से परिचित थे।

सबसे पहले लगने वाली बात यह है कि कबीरदास ने अपने को जुलाहा तो कई बार कहा है, पर मुसलमान एक बार भी नहीं कहा। वे बराबर अपने को 'ना-मुसलमान' कहते रहे। आध्यात्मिक पक्ष में निःसंदेह यह बहुत ऊँचा भाव है, पर कबीरदास ने कुछ इस ढंग से अपने को उभय-विशेष बताया है कि कभी-कभी यह संदेह होता है कि वे आध्यात्मिक सत्य के अतिरिक्त एक सामाजिक तथ्य की ओर भी इशारा कर रहे हैं। उन दिनों वयनजीवी नाथ-मतावलंबी गृहस्थ योगियों की जाति सचमुच ही 'ना-हिंदू ना-मुसलमान' थी। कबीरदास ने कम-से-कम एक पद में स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि हिंदू और हैं, मुसलमान और हैं और योगी और हैं, क्योंकि योगी या जोगी 'गोरख-गोरख करता है, हिंदू 'राम-राम' उच्चारता है और मुसलमान 'खुदा-खुदा' कहा करता है।

शिक्षा

कबीर पढ़े-लिखे नहीं थे- अपनी अवस्था के बालकों से एकदम भिन्न रहते थे। कबीरदास की खेल में कोई रुचि नहीं थी। मदरसे भेजने लायक साधन

पिता–माता के पास नहीं थे। जिसे हर दिन भोजन के लिए ही चिंता रहती हो, उस पिता के मन में कबीर को पढ़ाने का विचार भी न उठा होगा। यही कारण है कि वे किताबी विद्या प्राप्त न कर सके।

मसि कागद छूवो नहीं, कलम गही नहिं हाथ।

उन्होंने स्वयं ग्रंथ नहीं लिखे, मुँह से बोले और उनके शिष्यों ने उसे लिख लिया।

वैवाहिक जीवन

कबीर का विवाह वनखेड़ी बैरागी की पालिता कन्या 'लोई' के साथ हुआ था। कबीर को कमाल और कमाली नाम की दो संतान भी थी। ग्रंथ साहब के एक श्लोक से विदित होता है कि कबीर का पुत्र कमाल उनके मत का विरोधी था।

बूड़ा बंस कबीर का, उपजा पूत कमाल।
हरि का सिमरन छोडि के, घर ले आया माल।

कबीर की पुत्री कमाली का उल्लेख उनकी वाणियों में कहीं नहीं मिलता है। कहा जाता है कि कबीर के घर में रात – दिन मुडियों का जमघट रहने से बच्चों को रोटी तक मिलना कठिन हो गया था। इस कारण से कबीर की पत्नी झुंझला उठती थी। एक जगह कबीर उसको समझाते हैं –

सुनि अंघली लोई बंपीर।
इन मुड़ियन भजि सरन कबीर।।

जबकि कबीर को कबीर पंथ में, बाल– ब्रह्मचारी और बैरागी माना जाता है। इस पंथ के अनुसार कामात्य उसका शिष्य था और कमाली तथा लोई उनकी शिष्या। लोई शब्द का प्रयोग कबीर ने एक जगह कंबल के रूप में भी किया है। वस्तुतः कबीर की पत्नी और संतान दोनों थे। एक जगह लोई को पुकार कर कबीर कहते हैं –

'कहत कबीर सुनहु रे लोई।
हरि बिन राखन हार न कोई।। '

यह हो सकता हो कि पहले लोई पत्नी होगी, बाद में कबीर ने इसे शिष्या बना लिया हो। उन्होंने स्पष्ट कहा है –

नारी तो हम भी करी, पाया नहीं विचार।
जब जानी तब परिहरि, नारी महा विकार।।

गुरु दीक्षा

कबीर जी ने सोचा कि गुरु किये बिना काम बनेगा नहीं। उस समय काशी में रामानन्द नाम के संत बड़े उच्च कोटि के महापुरुष माने जाते थे। कबीर जी ने उनके आश्रम के मुख्य द्वार पर आकर विनती की: 'मुझे गुरुजी के दर्शन कराओ।' उस समय जात-पाँत का बड़ा आग्रह रहता था। और फिर काशी ! वहाँ पण्डितों और पाण्डे लोगों का अधिक प्रभाव था। कबीर जी ने देखा कि हर रोज सुबह तीन-चार बजे स्वामी रामानन्द खड़ाऊँ पहनकर 'टप...टप....' आवाज करते गंगा में स्नान करने जाते हैं। कबीर जी ने गंगा के घाट पर उनके जाने के रास्ते में और सब जगह बाड़ कर दी। एक ही मार्ग रखा और उस मार्ग में सुबह के अन्धेरे में कबीर जी सो गये। गुरु महाराज आये तो अन्धेरे के कारण कबीर जी पर पैर पड़ गया। उनके मुख से उदगार निकल पड़े: 'राम... राम... राम....। ' कबीर जी का तो काम बन गया। गुरुजी के दर्शन भी हो गये, उनकी पादुकाओं का स्पर्श भी मिल गया और गुरुमुख से रामनाम का मंत्र भी मिल गया। अब दीक्षा में बाकी ही क्या रहा ? कबीर जी नाचते, गाते, गुनगुनाते घर वापस आये। रामनाम की और गुरुदेव के नाम की रट लगा दी। अत्यंत स्नेहपूर्वक हृदय से गुरुमंत्र का जप करते, गुरुनाम का कीर्तन करते साधना करने लगे। जो महापुरुष जहाँ पहुँचे हैं वहाँ की अनुभूति उनका भावपूर्ण हृदय से चिन्तन करने वाले को भी होने लगती है। काशी के पण्डितों ने देखा कि यवन का पुत्र कबीर रामनाम जपता है, रामानन्द के नाम का कीर्तन करता है ! उस यवन को रामनाम की दीक्षा किसने दी ? क्यों दी ? मंत्र को भ्रष्ट कर दिया ! पण्डितों ने कबीर से पूछा–

'रामनाम की दीक्षा तेरे को किसने दी ?'
'स्वामी रामानन्दजी महाराज के श्रीमुख से मिली।'
'कहाँ दी ?'
'सुबह गंगा के घाट पर।'

पण्डित रामानन्द जी के पास पहुँचे और कहा कि आपने यवन को राममंत्र की दीक्षा देकर मंत्र को भ्रष्ट कर दिया, सम्प्रदाय को भ्रष्ट कर दिया। गुरु महाराज ! यह आपने क्या किया ?

गुरु महाराज ने कहा- 'मैंने तो किसी को दीक्षा नहीं दी।'

'वह यवन जुलाहा तो रामानन्द..... रामानन्द.... मेरे गुरुदेव रामानन्द' की रट लगाकर नाचता है, आपका नाम बदनाम करता है।'

'भाई ! मैंने उसको कुछ नहीं कहा। उसको बुलाकर पूछा जाये। पता चल जायेगा।'

काशी के पण्डित इकट्ठे हो गये। कबीर जी को बुलाया गया। गुरु महाराज मंच पर विराजमान हैं। सामने विद्वान् पण्डितों की सभा बैठी है।

रामानन्द जी ने कबीर से पूछा: 'मैंने तुझे कब दीक्षा दी ? मैं कब तेरा गुरु बना ?'

कबीर जी बोले: 'महाराज ! उस दिन प्रभात को आपने मेरे को पादुका का स्पर्श कराया और राममंत्र भी दिया, वहाँ गंगा के घाट पर।'

रामानन्द जी कुपित से हो गये। कबीर जी को अपने सामने बुलाया और गरज कर बोले: 'मेरे सामने तू झूठ बोल रहा है ? सच बोल....'

'प्रभु ! आपने ही मुझे प्यारा रामनाम का मंत्र दिया था, ...'

रामानन्दजी को गुस्सा आ गया। खडाऊँ उठाकर दे मारी कबीर जी के सिर पर।

'राम... राम...राम....! इतना झूठ बोलता है।...।'

कबीर जी बोल उठे: 'गुरु महाराज ! तबकी दीक्षा झूठी तो अबकी तो सच्ची...! मुख से रामनाम का मंत्र भी मिल गया और सिर में आपकी पावन पादुका का स्पर्श भी हो गया।'

स्वामी रामानन्द जी उच्च कोटि के संत-महात्मा थे। घड़ी भर भीतर गोता लगाया, शांत हो गये। फिर पण्डितों से कहा: 'चलो, यवन हो या कुछ भी हो, मेरा पहले नम्बर का शिष्य यही है।'

ब्रह्मनिष्ठ सत्पुरुषों की विद्या या दीक्षा प्रसाद खाकर मिले तो भी बेड़ा पार करती है और मार खाकर मिले तो भी बेड़ा पार कर देती है।

मृत्यु

कबीर ने काशी के पास मगहर में देह त्याग दी। ऐसी मान्यता है कि मृत्यु के बाद उनके शव को लेकर विवाद उत्पन्न हो गया था। हिन्दू कहते थे कि उनका अंतिम संस्कार हिन्दू रीति से होना चाहिए और मुस्लिम कहते थे कि मुस्लिम रीति से। इसी विवाद के चलते जब उनके शव पर से चादर हट गई, तब लोगों ने वहाँ फूलों का ढेर पड़ा देखा। बाद में वहाँ से आधे फूल हिन्दुओं ने ले लिए और आधे मुसलमानों ने। मुसलमानों ने मुस्लिम रीति से और हिंदूओं ने हिंदू रीति से उन फूलों का अंतिम संस्कार किया। मगहर में कबीर की समाधि

है। जन्म की भाँति इनकी मृत्यु तिथि एवं घटना को लेकर भी मतभेद हैं, किन्तु अधिकतर विद्वान् उनकी मृत्यु संवत् 1575 विक्रमी (सन् 1518 ई.) मानते हैं, लेकिन बाद के कुछ इतिहासकार उनकी मृत्यु 1448 को मानते हैं।

हजारी प्रसाद द्विवेदी की कलम से

त्रिपुरा जिले के योगियों को पहले अग्निदाह करते हैं और फिर समाधि भी देते हैं अर्थात् मिट्टी में गाड़ भी देते हैं। कबीरदास के विषय में प्रसिद्ध है कि उनकी मृत्यु के बाद कुछ फूल बच रहे थे जिनमें से आधे को हिन्दुओं ने जलाया और आधे को मुसलमानों ने गाड़ दिया। कई पंडितों ने इस को करामाती किंवदती कहकर उड़ा दिया है, पर मेरा अनुमान है कि सचमुच ही कबीरदास को (त्रिपुरा जिले के वर्तमान योगियों की भाँति) समाधि भी दी गई होगी और उनका अग्नि-संस्कार भी किया गया होगा। यदि यह अनुमान सत्य है तो दृढ़ता के साथ ही कहा जा सकता है कि कबीरदास जिस जुलाहा जाति में पालित हुए थे वह एकाध पुश्त पहले के योगी जैसी किसी आश्रम-भ्रष्ट जाति से मुसलमान हुई थी या अभी होने की राह में थी। जोगी जाति का संबंध नाथपंथी सिद्धांतों की जानकारी न हो, तो कबीर की वाणियों को समझ सकना भी मुश्किल है।

कबीर का जीवन दर्शन

कबीर परमात्मा को मित्र, माता, पिता और पति के रूप में देखते हैं। वे कहते हैं-

हरिमोर पिउ, मैं राम की बहुरिया। तो कभी कहते हैं-

हरि जननी मैं बालक तोरा। उस समय हिंदू जनता पर मुस्लिम आतंक का कहर छाया हुआ था। कबीर ने अपने पंथ को इस ढंग से सुनियोजित किया जिससे मुस्लिम मत की ओर झुकी हुई जनता सहज ही इनकी अनुयायी हो गयी। उन्होंने अपनी भाषा सरल और सुबोध रखी ताकि वह आम आदमी तक पहुँच सके। इससे दोनों सम्प्रदायों के परस्पर मिलन में सुविधा हुई। इनके पंथ मुसलमान-संस्कृति और गोभक्षण के विरोधी थे। कबीर को शांतिमय जीवन प्रिय था और वे अहिंसा, सत्य, सदाचार आदि गुणों के प्रशंसक थे। अपनी सरलता, साधु स्वभाव तथा संत प्रवृत्ति के कारण आज विदेशों में भी उनका आदर होता है।

हिन्दू-मुस्लिम एकता

जो लोग हिन्दू-मुस्लिम एकता के व्रत में दीक्षित हैं, वे भी कबीरदास को अपना मार्गदर्शक मानते हैं। यह उचित भी है। राम-रहीम और केशव-करीम की जो एकता स्वयं सिद्ध है, उसे भी सम्प्रदाय बुद्धि से विकृत मस्तिष्क वाले लोग नहीं समझ पाते। कबीरदास से अधिक जोरदार शब्दों में एकता का प्रतिपादन किसी ने भी नहीं किया है। पर जो लोग उत्साहधिक्यवश कबीर को केवल हिन्दू-मुस्लिम एकता का पैगम्बर मान लेते हैं वे उनके मूल स्वरूप को भूलकर उसके एक देशमात्र की बात करने लगते हैं। ऐसे लोग यदि यह देखकर क्षुब्ध हों कि कबीरदास ने दोनों धर्मों की ऊँची संस्कृति या 'दोनों धर्मों के उच्चतर भावों में सामंजस्य स्थापित करने की कहीं पर कोशिश नहीं की और सिर्फ यही नहीं, बल्कि उन सभी धर्मगत विशेषताओं की खिल्ली ही उड़ाई है जिसे मजहबी नेता बहुत श्रेष्ठ धर्माचार कहकर व्याख्या करते हैं, 'तो कुछ आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि कबीरदास इस बिन्दु से धार्मिक द्वन्द्वों को देखते ही न थे। उन्होंने रोग का ठीक निदान किया या नहीं, इसमें दो मत हो सकते हैं, पर औषध निर्वाचन में और अपथ्य वर्जन के निर्देश में उन्होंने बिल्कुल गलती नहीं की। यह औषध है भगवद्विश्वास। दोनों धर्म समान रूप से भगवान में विश्वास करते हैं और यदि सचमुच ही आदमी धार्मिक है तो इस अमोघ औषध का प्रभाव उस पर पड़ेगा ही। अपथ्य है बाह्य आचारों को धर्म समझना, व्यर्थ कुलाभिमान, अकारण ऊँच-नीच का भाव। कबीरदास की इन दोनों व्यवस्थाओं में गलती नहीं है और अगर किसी दिन हिन्दुओं और मुसलमानों में एकता हुई तो इसी रास्ते हो सकती है। इसमें केवल बाह्यचारवर्जन की नकारात्मक प्रक्रिया नहीं है, भगवद्विश्वास का अविश्लेष्य सीमेंट भी कार्य करेगा।

इसी अर्थ में कबीरदास हिन्दू और मुसलमानों के ऐक्य-विधायक थे। परन्तु जैसा की आरम्भ में ही कहा गया है, कबीरदास को केवल इन्हीं रूपों में देखना सही नहीं है। वे मूलतः भक्त थे। भगवान पर उनका अविचल अखंड विश्वास था। वे कभी सुधार करने के फेर में नहीं पड़े। शायद वे अनुभव कर चुके थे कि जो स्वयं सुधरना ही नहीं चाहता, उसे जबरदस्ती सुधारने का व्रत व्यर्थ का प्रयास ही है। वे अपने उपदेश साधु भाई को देते थे या फिर स्वयं अपने आपको ही सम्बोधित करके कह देते थे। यदि उनकी बात कोई सुनने वाला न मिले तो वे निश्चित होकर स्वयं को ही पुकार कर कह उठते: 'अपनी राह तू चले कबीरा

!' अपनी राह अर्थात् धर्म, सम्प्रदाय, जाति, कुल और शास्त्र की रूढ़ियों से जो बद्ध नहीं है, जो अपने अनुभव के द्वारा प्रत्यक्षीकृत है।

कबीर की महिमा

जो लोग इन बातों से ही कबीरदास की महिमा का विचार करते हैं वे केवल सतह पर ही चक्कर काटते हैं। कबीरदास एक जबरदस्त क्रान्तिकारी पुरुष थे। उनके कथन की ज्योति जो इतने क्षेत्रों को उद्भासित कर सकी है सो मामूली शक्तिमत्ता की परिचायिका नहीं है। परन्तु यह समझना कि उद्भासित पदार्थ ही ज्योति है, बड़ी भारी गलती है। उद्भासित पदार्थ ज्योति की ओर इशारा करते हैं और ज्योति किधर और कहाँ पर है, इस बात का निर्देश देते हैं। ऊपर-ऊपर, सतह पर चक्कर काटने वाले समुद्र भले ही पार कर जाएँ, पर उसकी गहराई की थाह नहीं पा सकते। इन पंक्तियों को लेखक अपने को सतह का चक्कर काटने वालों से विशेष नहीं समझता। उसका दृढ़ विश्वास है कि कबीरदास के पदों में जो महान् प्रकाशपुंज है, वह बौद्धिक आलोचना का विषय नहीं है। वह संग्रहालय की चीज नहीं है, बल्कि जीवित प्राणवान वस्तु है। कबीर पर पुस्तकें बहुत लिखी गई हैं, और भी लिखी जाएँगी, पर ऐसे लोग कम ही हैं, जो उस साधना कि गहराई तक जाने की चेष्टा करते हों। राम की वानरी सेना समुद्र जरूर लाँघ गई थी, पर उसकी गहराई का पता तो मंदर पर्वत को ही था, जिसका विराट शरीर आपाताल-निमग्न हो गया था:

अब्धिर्लंघित एव वानरभटैः किन्त्वस्य गंभीरताम्
आपाताल - निमग्न - पीवरतनुर्जानाति मंद्राचलः।

सो, कबीरदास की सच्ची महिमा तो कोई गहरे में गोता लगाने वाला ही समझ सकता है। कबीरदास ने स्वयं अरूप को रूप देने की चेष्टा की थी। परन्तु वह स्वयं कह गए हैं कि ये सारे प्रयास तभी तक थे, जब तक की परम प्रेम के आधार पर प्रियतम का मिलन नहीं हुआ था। साखी, पद, शब्द और दोहरे उसी प्राप्ति के साधन हैं, मार्ग हैं। गंतव्य तक पहुँच जाने पर मार्ग का हिसाब करना बेकार होता है। फिर इन साखी, शब्द और दोहरों की व्याख्या के प्रयास को क्या कहा जाए? ये तो साधन को समझाने के साधन-साधन के भी साधन हैं।

3

कबीर की साखी

जनश्रुतियों से ज्ञात होता है कि कबीर ने हिंदू-मुसलमान का भेद मिटा कर हिंदू-भक्तों तथा मुसलमान फकीरों का सत्संग किया और दोनों की अच्छी बातों को हृदयंगम कर लिया।

जनश्रुति के अनुसार उन्हें एक पुत्र कमाल तथा पुत्री कमाली थी। इतने लोगों की परवरिश करने के लिये उन्हें अपने करघे पर काफी काम करना पड़ता था। साधु संतों का तो घर में जमावड़ा रहता ही था। कबीर पढ़े-लिखे नहीं थे-

'मसि कागद छूवो नहीं, कलम गही नहिं हाथ।'

उन्होंने स्वयं ग्रंथ नहीं लिखे, मुँह से भाखे और उनके शिष्यों ने उसे लिख लिया। आप के समस्त विचारों में रामनाम की महिमा प्रतिध्वनित होती है। वे एक ही ईश्वर को मानते थे और कर्मकाण्ड के घोर विरोधी थे। अवतार, मूर्ति, रोजा, ईद, मस्जिद, मंदिर आदि को वे नहीं मानते थे।

कबीर के नाम से मिले ग्रंथों की संख्या भिन्न-भिन्न लेखों के अनुसार भिन्न-भिन्न है। एच.एच. विल्सन के अनुसार कबीर के नाम पर आठ ग्रंथ हैं। विशप जी.एच. वेस्टकॉट ने कबीर के 84 ग्रंथों की सूची प्रस्तुत की तो रामदास गौड ने 'हिंदूत्व' में 71 पुस्तकें गिनायी हैं।

कबीर की वाणी का संग्रह 'बीजक' के नाम से प्रसिद्ध है। इसके तीन भाग हैं- रमैनी, सबद और सारवी यह पंजाबी, राजस्थानी, खड़ी बोली, अवधी, पूरबी, ब्रजभाषा आदि कई भाषाओं की खिचड़ी है।

कबीर परमात्मा को मित्र, माता, पिता और पति के रूप में देखते हैं। यही तो मनुष्य के सर्वाधिक निकट रहते हैं। वे कभी कहते हैं–

'हरिमोरपिउ, मैं राम की बहुरिया' तो
कभी कहते हैं, 'हरि जननी मैं बालक तोरा'

उस समय हिंदू जनता पर मुस्लिम आतंक का कहर छाया हुआ था। कबीर ने अपने पंथ को इस ढंग से सुनियोजित किया जिससे मुस्लिम मत की ओर झुकी हुई जनता सहज ही इनकी अनुयायी हो गयी। उन्होंने अपनी भाषा सरल और सुबोध रखी ताकि वह आम आदमी तक पहुँच सके। इससे दोनों सम्प्रदायों के परस्पर मिलन में सुविधा हुई। इनके पंथ मुसलमान–संस्कृति और गोभक्षण के विरोधी थे।

कबीर को शांतिमय जीवन प्रिय था और वे अहिंसा, सत्य, सदाचार आदि गुणों के प्रशंसक थे। अपनी सरलता, साधु स्वभाव तथा संत प्रवृत्ति के कारण आज विदेशों में भी उनका समादर हो रहा है।

वृद्धावस्था में यश और कीर्ति की मार ने उन्हें बहुत कष्ट दिया। उसी हालत में उन्होंने बनारस छोड़ा और आत्मनिरीक्षण तथा आत्मपरीक्षण करने के लिये देश के विभिन्न भागों की यात्राएँ कीं। इसी क्रम में वे कालिंजर जिले के पिथौराबाद शहर में पहुँचे। वहाँ रामकृष्ण का छोटा–सा मन्दिर था। वहाँ के संत भगवान गोस्वामी जिज्ञासु साधक थे किंतु उनके तर्कों का अभी तक पूरी तरह समाधान नहीं हुआ था। संत कबीर से उनका विचार–विनिमय हुआ। कबीर की एक साखी ने उन के मन पर गहरा असर किया–

'बन ते भागा बिहरे पड़ा, करहा अपनी बान।
करहा बेदन कासों कहे, को करहा को जान॥'

वन से भाग कर बहेलिये के द्वारा खोये हुए गड्ढे में गिरा हुआ हाथी अपनी व्यथा किस से कहे ?

सारांश यह कि धर्म की जिज्ञासा सें प्रेरित हो कर भगवान गोसाई अपना घर छोड़ कर बाहर तो निकल आये और हरिव्यासी सम्प्रदाय के गड्ढे में गिर कर अकेले निर्वासित हो कर असंबाद्य स्थिति में पड़ चुके हैं।

मूर्ति पूजा को लक्ष्य करते हुए उन्होंने एक साखी हाजिर कर दी–

पाहन पूजे हरि मिलैं, तो मैं पूजौं पहार।
था ते तो चाकी भली, जासे पीसी खाय संसार॥

कबीरदास जी का व्यक्तित्त्व संत कवियों में अद्वितीय है। हिन्दी साहित्य के 1200 वर्षों के इतिहास में गोस्वामी तुलसीदास जी के अतिरिक्त इतना प्रतिभाशाली व्यक्तित्त्व किसी कवि का नहीं है। कबीर के दर्शन पर शोध 18वीं शताब्दी में आरम्भ हो चुका था किन्तु उसका वैज्ञानिक विवेचन सन् 1903 में एच.एच.विन्सन ने किया। उन्होंने कबीर पर 8 ग्रन्थ लिखे। इसके बाद विशप जी. एच.वेप्टकॉट ने कबीर द्वारा लिखित 84 ग्रन्थों की सम्पूर्ण सूचि प्रस्तुत की। इसी प्रकार हरिऔध जी द्वारा सम्पादित कबीर वचनावलि में 21 ग्रन्थ, डॉ रामकुमार वर्मा द्वारा रचित हिन्दी साहित्य के आलोचनात्मक इतिहास में 61 ग्रन्थ तथा नागरी प्रचारिणी सभा की रिपोर्ट में 140 ग्रन्थों की सूचि मिलती है। कबीर ग्रन्थावलि में कुल 809 साखियाँ, 403 पद और 7 रमैनियाँ संग्रहित हैं।

साहित्यिक क्षेत्र में पदों और साखियों का ही अधिक प्रचार हुआ परन्तु बीजक प्रायरू उपेक्षित रहा। अमृतसर के गुरुद्वारे में बीजक का ही पाठ होता है। कबीर के दार्शनिक सिद्धान्तों का सार बीजक में उपलब्ध है। कबीर का प्रमुख साहित्य रमैनी, साखी और शब्द बीजक में उपलब्ध है। डॉ पारसनाथ तिवारी ने बीजक के 32 संस्करणों की सूचि दी है।

हम कह सकते हैं कि कबीर साहित्य तीन खण्डों में विभक्त है – रमैनी, साखी और शब्द। रमैनी में जगत, साखी में जीव और शब्द में ब्रह्म सम्बन्धी विचार हैं। रमैनी शब्द का अर्थ है संसार में जीवों के रमण का विवेचन। साखी शब्द संस्कृत के साक्षी से आया है जिसका अर्थ है – गवाह। साखी में संत कबीर ने उन तथ्यों का वर्णन किया है जिसका अपने जीवन में स्वयं साक्षात्कार किया। शब्द (सबद) का प्रयोग दो अर्थों में किया है – एक तो परमतत्त्व के अर्थों में, और दूसरे पद के अर्थ में।

कबीर की साखी–1

:: गुरुदेव ::

सतगुरु सवाँ न को सगा, सोधी सई न दाति।
हरिजी सवाँ न को हितू, हरिजन सई न जाति॥ 1। ।

सद्गुरु के समान कोई सगा नहीं है। शुद्धि के समान कोई दान नहीं है। इस शुद्धि के समान दूसरा कोई दान नहीं हो सकता। हरि के समान कोई हितकारी नहीं है, हरि सेवक के समान कोई जाति नहीं है।

बलिहारी गुरु आपकी, घरी घरी सौ बार।
मानुष तैं देवता किया, करत न लागी बार॥ 2। ।

मैं अपने गुरु पर प्रत्येक क्षण सैंकड़ों बार न्यौछावर जाता हूँ जिसने मुझको बिना विलम्ब के मनुष्य से देवता कर दिया।

सतगुरु की महिमा अनँत, अनँत किया उपगार।
लोचन अनँत उघारिया, अनँत दिखावनहार॥ 3। ।

सद्गुरु की महिमा अनन्त है। उसका उपकार भी अनन्त है। उसने मेरी अनन्त दृष्टि खोल दी जिससे मुझे उस अनन्त प्रभु का दर्शन प्राप्त हो गया।

राम नाम कै पटंतरे, देबे कौं कुछ नाहिं।
क्या लै गुरु संतोषिए, हौंस रही मन माँहि॥ 4। ।

गुरु ने मुझे राम नाम का ऐसा दान दिया है कि मैं उसकी तुलना में कोई भी दक्षिणा देने में असमर्थ हूँ।

सतगुरु कै सदकै करूँ, दिल अपनीं का साँच।
कलिजुग हम सौं लड़ि पड़ा, मुहकम मेरा बाँच॥ 5। ।

सद्गुरु के प्रति सच्चा समर्पण करने के बाद कलियुग के विकार मुझे विचलित न कर सके और मैंने कलियुग पर विजय प्राप्त कर ली।

सतगुरु शब्द कमान ले, बाहन लागे तीर।
एक जु बाहा प्रीति सों, भीतर बिंधा शरीर॥ 6। ।

मेरे शरीर के अन्दर (अन्तरात्मा में) सद्गुरु के प्रेमपूर्ण वचन बाण की भाँति प्रवेश कर चुके हैं जिससे मुझे आत्म-ज्ञान प्राप्त हो गया है।

सतगुरु साँचा सूरिवाँ, सबद जु बाह्या एक।
लागत ही भैं मिलि गया, पड्या कलेजै छेक॥ 7। ।

सद्गुरु सच्चे वीर हैं। उन्होंने अपने शब्द बाण द्वारा मेरे हृदय पर गहरा प्रभाव डाला है।

पीछैं लागा जाइ था, लोक वेद के साथि।
आगैं थैं सतगुर मिल्या, दीपक दीया हाथि॥ 8। ।

मैं अज्ञान रूपी अन्धकार में भटकता हुआ लोक और वेदों में सत्य खोज रहा था। मुझे भटकते देखकर मेरे सद्गुरु ने मेरे हाथ में ज्ञानरूपी दीपक दे दिया जिससे मैं सहज ही सत्य को देखने में समर्थ हो गया।

दीपक दीया तेल भरि, बाती दई अघट्ट।
पूरा किया बिसाहना, बहुरि न आँवौं हट्ट॥ 9। ।

कबीर दास जी कहते हैं कि अब मुझे पुनः इस जन्म-मरणरूपी संसार के बाजार में आने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि मुझे सद्गुरु से ज्ञान प्राप्त हो चुका है।

ग्यान प्रकासा गुरु मिला, सों जिनि बीसरिं जाइ।
जब गोविंद कृपा करी, तब गुर मिलिया आई॥ 10॥

गुरु द्वारा प्रदत्त सच्चे ज्ञान को मैं भुल न जाऊँ ऐसा प्रयास मुझे करना है क्योंकि ईश्वर की कृपा से ही सच्चे गुरु मिलते हैं।

कबीर गुर गरवा मिल्या, रलि गया आटैं लौंन।
जाति पाँति कुल सब मिटे, नाँव धरौगे कौंन॥11॥

कबीर कहते हैं कि मैं और मेरे गुरु आटे और नमक की तरह मिलकर एक हो गये हैं। अब मेरे लिये जाति-पाति और नाम का कोई महत्त्व नहीं रह गया है।

जाका गुरु भी अँधला, चेला खरा निरंध।
अंधहि अंधा ठेलिया, दोनों कूप पडंत॥ 12॥

अज्ञानी गुरु का शिष्य भी अज्ञानी ही होगा। ऐसी स्थिति में दोनों ही नष्ट होंगे।

नाँ गुर मिल्या न सिष भया, लालच खेल्याडाव।
दोनौं बूड़े धार मैं, चढ़ि पाथर की नाव॥13॥

साधना की सफलता के लिए ज्ञानी गुरु तथा निष्ठावान साधक का संयोग आवश्यक है। ऐसा संयोग न होने पर दोनों की ही दुर्गति होती है। जैसे कोई पत्थर की नाव पर चढ़ कर नदी पार करना चाहे।

चौसठि दीवा जोइ करि, चौदह चंदा माँहि।
तिहि घर किसकौ चाँन्दना, जिहि घर गोविंद नाँहि॥ 14॥

ईश्वर भक्ति के बिना केवल कलाओं और विद्याओं की निपुणता मात्र से मनुष्य का कल्याण सम्भव नहीं है।

भली भई जु गुर मिल्या, नातर होती हानि।
दीपक जोति पतंग ज्यूँ, पड़ता आप निदान॥ 15॥

कबीर दास जी कहते हैं कि सौभाग्यवश मुझे गुरु मिल गया अन्यथा मेरा जीवन व्यर्थ ही जाता तथा मैं सांसारिक आकर्षणों में पड़कर नष्ट हो जाता।

माया दीपक नर पतंग, भ्रमि भ्रमि इवैं पडंत।
कहै कबीर गुर ग्यान तैं, एक आध उबरंत॥ 16॥

माया का आकर्षण इतना प्रबल है कि कोई विरला ही गुरु कृपा से इससे बच पाता है।

संसै खाया सकल जग, संसा किनहुँ न खद्ध।
जे बेधे गुरु अष्षिरां, तिनि संसा चुनिचुनि खद्ध।। 17।।

अधिकांश मनुष्य संशय से ग्रस्त रहते हैं। किन्तु गुरु उपदेश से संशय का नाश संभव है।

सतगुर मिल्या त का भया, जे मनि पाड़ी भोल।
पांसि विनंठा कप्पड़ा, क्या करै बिचारी चोल।। 18।।

सद्गुरु मिलने पर भी यह आवश्यक है कि साधना द्वारा मन को निर्मल किया जाये अन्यथा गुरु मिलन का संयोग भी व्यर्थ चला जाता है।

बूड़ा था पै ऊबरा, गुरु की लहरि चमंकि।
भेरा देख्या जरजरा, (तब) ऊतरि पड़े फरंकि।। 19।।

कबीर दास जी कहते हैं कि कर्मकाण्ड रूपी नाव से भवसागर पार करना कठिन था, अतः मैंने कर्मकाण्ड छोड़कर गुरु द्वारा बताये गये मार्ग से आसानी से सिद्धि प्राप्त कर ली।

गुरु गोविंद तौ एक है, दूजा यहु आकार।
आपा मेट जीवत मरै, तौ पावै करतार।। 20।।

गुरु और ईश्वर में कोई भेद नहीं है। जो साधक अहंता का भाव त्याग देता है वह मोक्ष को प्राप्त करता है।

कबीर सतगुर ना मिल्या, रही अधूरी सीख।
स्वाँग जती का पहिरि करि, घरि घरि माँगे भीख। । 21।।

सद्गुरु के मार्गदर्शन के अभाव में साधना अधूरी रह जाती है और ऐसे लोग संन्यासी का वेश बनाकर केवल भिक्षा मांगते रहते हैं।

सतगुर साँचा, सूरिवाँ, तातैं लोहि लुहार।
कसनी दे कंचन किया, ताई लिया ततसार। । 22।।

इस साखी में कबीर दास जी ने सद्गुरु के लिए सोनार और लोहार का दृष्टान्त दिया है। सोनार की भाँति गुरु-शिष्य को साधना की कसौटी पर परखता है फिर लोहार की भाँति तपाकर शिष्य के मन को सही आकार देता है।

निहचल निधि मिलाइ तत, सतगुर साहस धीर।
निपजी मैं साझी घना, बाँटे नहीं कबीर।। 23। ।

कबीर दास जी कहते हैं कि सद्गुरु की कृपा से आत्मज्ञान का आनन्द मुझे मिला है, किन्तु चाह कर भी मैं इस आनन्द को दूसरों के साथ बाँट नहीं सकता क्योंकि आत्मानुभूति के लिए व्यक्ति को स्वयं साधना करनी पड़ती है।

सतगुर हम सूँ रीझि करि, कहा एक परसंग।
बरसा बादल प्रेम का, भीजि गया सब अंग॥ 24। ।

सद्गुरु ने प्रसन्न होकर हमसे एक रहस्य की बात बतलायी, जिससे प्रेम का बादल इस प्रकार बरसा कि हम उसमें भीग गये।

कबीर बादल प्रेम का, हम परि बरस्या आइ।
अंतरि भीगी आतमाँ, हरी भई बनराई॥ 25। ।

कबीर कहते हैं कि सद्गुरु के बताये हुए मार्ग से प्रेम का बादल उमड़कर हमारे ऊपर बरसने लगा। हमारी अन्तरात्मा भीग गयी और जीवनरूपी वनराशि हरी हो गयी।

:: सुमिरन ::

कबीर कहता जात है, सुनता है सब कोइ।
राम कहें भल होइगा, नहिं तर भला न होइ॥ 26। ।

कबीरदास कहते हैं कि मैं कहता जाता हूँ अर्थात् बराबर कहता रहा हूँ और सभी मेरी बात सुनते भी हैं, किन्तु मेरे उपदेश के अनुरूप कोई आचरण नहीं करता। मेरा कहना यही है कि प्रभु के स्मरण से ही कल्याण होगा और किसी प्रकार से कल्याण नहीं हो सकता।

कबीर कहै मैं कथि गया, कथि गये ब्रह्म महेस।
राम नाम ततसार है, सब काहू उपदेस॥ 27। ।

कबीर कहते हैं कि ब्रह्मा और शिव ने सारे संसार को एक मुख्य उपदेश दिया है और मैं भी वही कहता हूँ कि राम-नाम ही वास्तव में सार वस्तु है।

तत्त तिलक तिहुँ लोक मैं, राम नाम निज सार।
जन कबीर मस्तक दिया, सोभा अधिक अपार॥ 28॥

तीनों लोकों में श्रेष्ठ तत्त्व राम नाम है और वही अपना भी सार है। भक्त कबीर ने अपने मस्तक पर उसको धारण कर लिया और इससे उनके जीवन में अपार शोभा आ गयी।

भगति भजन हरि नाँव है, दूजा दुक्ख अपार।
मनसा वाचा कर्मना, कबीर सुमिरन सार॥ 29॥

प्रभु की भक्ति और उनके नाम का भजन (जप) यही वस्तुतः सार है और सब बातें अपार दुःख हैं। कबीर का यह कहना है कि मन, वचन और कर्म से प्रभु का स्मरण ही जीवन का सार है।

चिंता तौ हरि नाँव की, और न चितवै दास।
जे कछु चितवैं राम बिन, सोइ काल की पास॥ 30॥

दास कबीर कहते हैं कि मैं तो केवल हरि नाम का चिन्तन करता हूँ और किसी वस्तु का चिन्तन नहीं करता। जो लोग राम को छोड़कर और कुछ चिन्तन करते हैं, वे बन्धन और मृत्यु में फँसते हैं।

मेरा मन सुमिरै राम को, मेरा मन रामहि आहि।
अब मन रामहिं हवै रहा, सीस नवावौं काहि॥ 31॥

मेरा मन राम का स्मरण करते-करते राममय हो गया। ऐसी स्थिति में अब मैं किसको नमस्कार करूँ?

तूँ तूँ करता तू भया, मुझ मैं रही न हूँ।
वारी फेरी बलि गई, जित देखौं तित तूँ॥ 32॥

मुझमें अहंभाव समाप्त हो गया। मैं पूर्ण रूप से तेरे ऊपर न्यौछावर हो गया हूँ और अब जिधर देखता हूँ, उधर तू ही तू दिखलाई देता है अर्थात् सारा जगत् ब्रह्ममय हो गया है।

कबीर निरभै राम जपु, जब लगि दीवै बाति।
तेल धटै बाती बुझै, (तब) सोवैगा दिन राति॥ 33॥

कबीर कहते हैं कि जब एक शरीर रूपी दीपक में प्राण रूपी वर्तिका विद्यमान है अर्थात् जब तक जीवन है, तब तक निर्भय होकर राम नाम का स्मरण करो। जब तेल घटने पर बत्ती बुझ जायेगी अर्थात् शक्ति क्षीण होने पर जब जीवन समाप्त हो जायेगा तब तो तू दिन-रात सोयेगा ही अर्थात् मृत हो जाने पर जब तेरा शरीर निश्चेतन हो जायेगा, तब तू क्या स्मरण करेगा ?

कबीर सूता क्या करै, जागि न जपै मुरारि।
इक दिन सोवन होइगा, लम्बे पाँव पसारि॥ 34॥

कबीर जीव को चेतावनी देते हैं कि हे जीव ! तू अज्ञान-निद्रा में सोते हुए क्या कर रहा है? जग कर अर्थात् इस निद्रा को त्याग कर भगवान का स्मरण कर। एक दिन तो तुझे पैर फैलाकर चिर निन्द्रा में मग्न होना ही है।

कबीर सूता क्या करै, गुन गोविंद के गाई।
तेरे सिर पर जम खड़ा, खरच कदे का खाई॥ 35॥

कबीर कहते हैं कि हे जीव ! तू अज्ञान-निद्रा में सोया हुआ क्या कर रहा है? तू प्रभु का गुणगान क्यों नहीं करता है? तेरे सिर पर यमराज खड़ा है। तू भी काल-ग्रस्त हो जाएगा, बचेगा नहीं। इसलिए जीवन रहते हुए सचेत होकर भगवान का स्मरण कर।

केसौ कहि कहि कूकिए, नाँ सोइय असरार।
राति दिवस कै कूकनै, कबहुँक लगे पुकार॥ 36॥

प्रभु को निरन्तर आर्त्त स्वर से पुकारते रहो। घोर निद्रा में न पड़े रहो। दिन-रात की पुकार से, सम्भव है, कभी सुनवाई हो जाये और तुम्हारी पुकार लग जाये।

जिहि घटि प्रीति न प्रेम रस, फुनि रसना नहिं राम।
ते नर इस संसार में, उपजि षये बेकाम॥ 37॥

जिनके हृदय में न प्रेम है, न प्रेम का आस्वाद और जिनकी जिह्वा पर राम नाम भी नहीं है, वे मनुष्य इस संसार में व्यर्थ पैदा होकर नष्ट होते हैं।

कबीर प्रेम न चाषिया, चषि न लीया साव।
सूने घर का पाहुनाँ ज्यूँ आया त्यूँ जाव॥ 38॥

कबीर कहते है कि जिसने प्रभु के प्रेम का अनुभव नहीं किया उसका इस संसार में जन्म लेना और मर जाना सूने घर में अतिथि के आने-जाने के समान है।

पहिलै बुरा कमाई करि, बाँधी विष की पोट।
कोटि करम फिल पलक मैं, (जब) आया हरि की ओट॥ 39॥

पहले अर्थात् पूर्व जन्म में अनेक पाप-कर्म करके जीव ने जो विष की गठरी बाँध रखी है, प्रभु की शरण में जाने पर वह उसको क्षण भर में फेंक कर शुद्ध हो जाता है।

कोटि क्रम पेलै पलक मैं, जे रंचक आवै नाउँ।
अनेक जुग जो पुन्नि करै, नहीं राम बिन ठाउँ। । 40॥

यदि प्रभु का तनिक भी नाम-स्मरण किया जाये तो वह पूर्व जन्म के करोड़ों दुष्कर्मों को क्षण भर में ढकेल कर नष्ट कर सकता है। किन्तु-भक्ति के बिना मनुष्य चाहे अनेक युगों तक पुण्य करे, उसको कोई ठौर-ठिकाना नहीं मिल सकता है।

जिहि हरि जैसा जानियां, तिनकौ तैसा लाभ।
ओसों प्यास न भाजई, जब लगि धसै न आभ। । 41॥

प्रभु को जिसने जिस प्रकार पहचाना है, उसी प्रकार उसको लाभ प्राप्त होता है। जब तक प्यासा पानी में डुबकी नहीं लगाता, तब तक केवल ओस चाटने से प्यास नहीं जाती।

राम पियारा छांडि करि, करै आन का जाप।
वेस्या केरा पूत ज्यौं, कहै कौन सौं बाप॥ 42॥

जो परम मित्र परमात्मा राम को छोड़कर अन्य देव-देवी का जप करता है, वह वेश्या के पुत्र के समान है, जो अपने वास्तविक पिता को नहीं जानता। वस्तुतः परमात्मा ही सबका पिता है, अन्य कोई नहीं।

कबीर आपन राम कहि, औरन राम कहाइ।
जिहि मुखि राम न ऊचरै, तिहि मुख फेरि कहाइ॥ 43॥

कबीर कहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं राम का जप करना ही चाहिए, उसे औरों से भी 'राम' कहलवाना चाहिए। जो व्यक्ति राम नाम का उच्चारण नहीं करता है, उससे बार-बार कहलवा चाहिये।

जैसे माया मन रमैं, यौं जे राम रमाइ।
(तौ) तारा मंडल बेधि कै, जहाँ के सो तहँ जाइ॥ 44॥

जिस प्रकार जीव का मन माया में रमण करता है, उसी प्रकार यदि उसका मन राम में रमण करे तो वह ब्रह्म में लीन हो सकता है।

लूटि सकै तौ लूटि लै, राम नाम की लूटि।
फिर पाछे पछिताहुगे, यहु तन जैहै छूटि॥ 45॥

मानव शरीर ही एक ऐसी योनि है जिसमें साधना सम्भव है। जब यह शरीर छूट जाएगा तो यह आध्यात्मिक साधना संभव न हो सकेगी और तब पछताओगे कि एक ईश्वर प्रदत्त अवसर को गँवा दिया।

लूटि सकै तौ लूटियौ, राम नाम भंडार।
काल कंठ तैं गहेगा, रूँधै दसों दुवार॥ 46॥

राम नाम का अक्षय भण्डार यथाशक्ति लूट लो। जब काल तुम्हारे कंठ को दबोचेगा, तब शरीर के दसों द्वार अवरुद्ध हो जायेंगे। उस समय तुम चेतना-शून्य को जाओगे और राम नाम का स्मरण कैसे कर सकोगे ?

लंबा मारग दूरि घर, विकट पंथ बहु मार।
कहौ संतौ क्यों पाइए, दुर्लभ हरि दीदार॥ 47॥

पथिक का घर बहुत दूर है और मार्ग कवेल लम्बा ही नहीं, दुस्तर भी है। मार्ग में बहुत से बटमार भी मिलते हैं। ऐसी स्थिति में अपने निर्दिष्ट स्थान तक पहुँचना अत्यन्त दुर्लभ है। इसी प्रकार प्रभु की प्राप्ति अपना लक्ष्य है। इसलिए चेत जाओ और गुरु की सहायता से मार्ग के विघ्नों से बचते हुए अपने लक्ष्य को प्राप्त करो।

गुन गाए, गुन ना कटै, रटै न, राम बियोग।
अह निसि हरि ध्यावै नहीं, क्यों पावै दुर्लभ जोग॥ 48॥

प्रभु का केवल गुणगान करने से कि वह सर्वव्यापी हैं, सर्वज्ञ हैं, सर्वशक्तिमान् हैं और कीर्तन-भजन करने से प्रकृति का त्रिगुणात्मक बन्धन नहीं कट सकता। यदि भक्त हृदय से उसका स्मरण न करता रहे तो प्रभु से वियोग बना रहता है।

कबीर कठिनाई खरी, सुमिरताँ हरि नाम।
सूली ऊपरि नट विद्या, गिरै त नाहीं ठाम॥ 49॥

कबीर कहते हैं कि प्रभु के भक्ति-मार्ग में बड़ी कठिनाई है। यह कठिनाई उसी प्रकार की है, जेसै–सूली के ऊपर नट द्वारा दिखलायी जाने वाली कला, जिसमें हमेशा यह भयावह स्थिति बनी रहती है कि यदि वह गिरा तो उसके बचने का कोई सहारा नहीं है।

कबीर राम ध्याइ लै, जिभ्या सौं करि मंत।
हरि सागर जिनि बीसरै, छीलर देखि अनंत॥ 50॥

कबीर कहते हैं कि जिह्वा से तो राम का मन्त्र जपते रहो और मन से उनका ध्यान करते रहो। मन्त्र जपना प्राण की क्रिया है, ध्यान मन की क्रिया। अतः प्रभु तो सागर के समान हैं इसलिये छिछले तालाब रूपी देव-देवियों के चक्कर में पड़कर महासागर के समान प्रभु को मत भुला दो।

कबीर राम रिझाइ लै, मुखि अमृत गुण गाइ।
फूटा नग ज्यों जोड़ि मन, संधिहि संधि मिलाइ॥ 51॥

कबीर कहते हैं कि हे जीव ! तू उस अमर तत्त्व का गुणगान कर, जो अमृत के समान औरों को भी अमर कर देता है। अपने चित्त को प्रभु में उसी प्रकार मिला दे, जैसे जौहरी फूटे हुए नग को संधि से संधि कर अर्थात् आपस में मिलाकर जोड़ देता है।

कबीर चित्त चमंकिया, चहुँ दिस लागी लाइ।
हरि सुमिरन हाथौं घड़ा बेगे लेहु बुझाइ॥ 52॥

कबीर कहते हैं कि इस संसार में सर्वत्र विषय वासना रूपी आग लगी हुई है। उसके ताप से तेरा चित्त तप्त हो उठा है। परन्तु, हे भक्त! तू घबरा मत। प्रभु के स्मरण-रूपी पावन जल से भरा हुआ घट तेरे हाथ में है अर्थात् तू प्रभु का स्मरण करने की स्थिति में है। उस घड़े से तू विषय-वासना रूपी आग को शीघ्र ही अधीन कर ले अर्थात् बुझा ले।

:: ग्यान बिरह ::

दीपक पावक आँनिया, तेल भि आना संग।
तीन्यँ मिलि करि जोइया, (तब) उड़ि उड़ि पड़ैं पतंग॥ 53॥

ज्योति के लिए तीन तत्त्वों की आवश्यकता होती है–दीपक, आग और तेल। इसी प्रकार जीव में ज्ञान रूपी ज्योति तभी आ सकती हैं, जब गुरु जीव रूपी दीपक में ज्ञान रूपी अग्नि और प्रेम अथवा भक्ति रूपी तेल एकत्र कर तीनों को योजित कर दे। ऐसा होने पर फिर तो विषय–वासना रूपी पतंगे स्वत: आ–आकर जल मरते हैं।

मारा है जे मरैगा, बिन सर थोथी भालि।
पड़ा पुकारै ब्रिछ तरि, आजि मरै कै काल्हि॥ 54॥

यदि गुरु ने केवल ज्ञान–विहीन बिरह का बाण मारा है, तब भी शिष्य मरेगा अर्थात् अपना या अहंभाव खोयेगा अवश्य। ठीक इसी प्रकार जिसमें केवल रागात्मक बिरह है, वह भी अहंभाव खोएगा, किन्तु बहुत समय के बाद। जिसको ज्ञान संयुक्त बिरह का बाण लगा है, वह शीघ्र ही अहंभाव खो देगा।

झल ऊठी झोली जली, खपरा फूटिम फूटि।
जोगी था सो रमि गया, आसनि रही विभूति॥ 55॥

ज्ञान रूपी अग्नि प्रज्ज्वलित हुई, उसमें योगी के सारे संचित कर्मों की झोली जल गयी और क्रियमाण कर्म रूपी भिक्षापात्र भी टूट–फूट गया अर्थात् अब उसका भी योगी पर कोई प्रभाव न रहा। उसके भीतर जो तत्त्व साधना कर रहा था, वह ब्रह्म में विलुप्त हो गया। अब आसन पर केवल भस्म रह गया अर्थात् साधक अपने पूर्व रूप में न रह कण अवशेष मात्र प्रतीक रूप में कहने–सुनने को रह गया।

आगि जु लागी नीर महिं, कांदौ जरिया झारि।
उतर दखिन के पंडिता, मुए बिचारि बिचारि॥ 56॥

पानी में आग लग गयी और उसका कीचड़ सम्पूर्णतया जल गया अर्थात् अवचेतन में जो दूषित संस्कार और वासनाएँ हैं वे भस्म हो गईं। उत्तर–दक्षिण के पंडित (पोथी तक सीमित ज्ञान वाले पंडित) अर्थात् चारों ओर के शास्त्री विचार कर हार गये पर इसका मर्म किसी की समझ में न आया।

दौं लागी सायर जला पंखी बैठे आई।
दाधी देह न पालवै, सद्गुरु गया लगाइ॥ 57॥

ज्ञान-विरह की अग्नि से मानस-सरोवर जल गया। अब हंस रूपी शुद्ध जीव ऊपर स्थित हो गया अर्थात् वासनाओं और पृथक् वैयक्तिक सत्ता से विमुक्त हो गया। पृथक् वैयक्तिक सत्ता रूपी देह भस्म हो गयी। अब वह पुनः नहीं पनप सकती अर्थात् स्वयं का अहंभाव सदा के लिए जाता रहा। अब वह पुनः पल्लवित न हो सकेगा।

गुरु दाधा चेला जला, बिहरा लागी आगि।
तिनका बपुरा ऊबरा, गलि पूरे के लागि॥ 58॥

गुरु ने बिरह की आग लगायी। उस आग में चेला जल गया अर्थात् उसके भीतर पूर्ण रूप से विरह की आग व्याप्त हो गई। सामान्यतया आग लगने से तिनका जलकर राख हो जाता है। परन्तु विरह की आग ऐसी होती है जिससे बेचारे क्षुद्र चेले रूपी तिनके का उद्धार ही हो जाता है, क्योंकि उस विरह से तृण का भस्म से और चेले का पूर्ण से आलिंगन हो जाता है।

अहेड़ी दौ लाइया मिरग पुकारे रोइ।
जा बन में क्रीला करी, दाझत है बन सोइ॥ 59॥

गुरु रूपी शिकारी शिष्य के मनरूपी देहात्मक वन में ज्ञान-विरह की आग लगती है और वह वासनासक्त जीव रूपी मृग चिल्ला-चिल्लाकर रोता है कि जिस विषय-वासना रूपी वन में भोग कर रहे थे, वह अब जल रहा है, नष्ट हुआ जा रहा है। अर्थात् मृग और आसक्ति-मुक्त जीवन में केवल भेद यह है कि मृग को वन का मोह बना रहता है, परन्तु आसक्ति-मुक्त जीव को क्षण भर के लिए धक्का-सा तो लगता है, परन्तु बाद में उसे मधुर शांति का अनुभव होता है।

पानीं मांहीं परजली, भई अपरबल आगि।
बहती सरिता रहि गई, मच्छ रहे जल त्यागि॥ 60॥

जब गुरु ने ज्ञान-विरह की अग्नि प्रज्ज्वलित की तो प्रबल ज्वाला उठी और विषयासक्त जीव प्रज्ज्वलित हो गया। इन्द्रियों का कार्य समाप्त हो गया और जीवात्मा रूपी मत्स्य ने विषय-वासनामयी जल को त्याग दिया।

:: परचा (परिचय) ::

कबीर तेज अनंत का, मानो सूरज सेनि।
पति संगि जागी सुन्दरी, कौतुक वीठा तेनि॥ 61॥

कबीर कहते हैं कि परमात्मा की ज्योति इतनी शक्तिशाली है मानों सूर्य की श्रेणी उदय हुई हो। परन्तु इस ज्योति रूपी ज्ञान का अनुभव सबको नहीं होता।

जो व्यक्ति मोह-निद्रा में सोता नहीं रहता, परमात्मा के साथ जागता रहता है, उन्हीं के द्वारा यह रहस्य देखा जाता है।

पारब्रह्म के तेज का, कैसा है उनमान।
कहिबे कौ सोभा नहीं, देखे ही परमान॥ 62॥

परब्रह्म के प्रकाश का अनुमान नहीं लगाया जा सकता। अनुमान, प्रत्यक्ष, उपमान आदि साधन तो मायिक जगत् के हैं। उसका साक्षात्कार इन किसी भी साधनों के क्षेत्र में नहीं है। उसका सौन्दर्य व्याख्यान से परे है। उसका प्रमाण केवल अपरोक्षानुभूति ही है।

हदे छाँड़ि बेहदि गया, हुआ निरन्तर वास।
कवँल जु फूला फूल बिना, को निरखै निज दास॥ 63॥

कबीर कहते हैं कि मैं ससीम से परे अर्थात् पारकर असीम में पहुँच गया और वहाँ मेरी शाश्वत स्थिति हो गई। वहाँ मैंने अनुभव किया कि बिना किसी फूल के एक कमल खिला हुआ जिसे प्रभु-भक्त के सिवाय भला और कौन देख सकता है ?

अन्तरि कँवल प्रकासिका, ब्रह्म वास तहँ होइ।
मन भँवरा तहँ लुबधिया, जानैगा जन कोइ॥ 64॥

हृदय के अन्तर्मन में कमल अर्थात् ज्योति प्रकाशित हो रहा है। वहाँ ब्रह्म का निवास है। मन रूपी भौंरा उस कमल रूपी ज्योति पर लुब्ध होकर उसमें विचरण करता रहता है। इस रहस्य को केवल प्रभु का भक्त ही जान सकता है।

सायर नाहीं सीप नहिं, स्वाति बूँद भी नाँहि।
कबीर मोती नीपजै, सुन्नि सिखर गढ़ माँहि॥ 65॥

कबीर कहते हैं कि वहाँ न तो सागर है न सीप है और न ही स्वाति-बूँद अर्थात् मोती में उत्पन्न होने के जितने संभावित कारण हैं, उनमें से एक भी विद्यमान नहीं है, फिर भी इस शरीर के भीतर सहस्त्रार में मोती उत्पन्न हो रहा है अर्थात् एक अद्‌भुत ज्योति का साक्षात्कार हो रहा है।

घट माँहैं औघट लह्या, औघट माँहैं घाट।
कहि कबीर परचा भया, गुरु दिखाई बाट॥ 66॥

कबीर कहते हैं कि गुरु ने मार्ग दर्शन किया। परिणामस्वरूप इस शरीर में ही मैंने एक विकट मार्ग का अनुभव किया और उस विकट मार्ग से ही अपने लक्ष्य को प्राप्त किया। वहाँ मुझे सत्य का दर्शन अर्थात् साक्षात्कार हुआ।

सूर समाना चाँद मैं, दुहूँ किया घर एक।
मन का चेता तब भया, कछू पूरबला लेख॥ 67॥

जब सूर्य नाड़ी चन्द्र नाड़ी में समाहित हो जाती है अर्थात् सुषुम्ना में चलने लगती है, तब मन का स्वेच्छित फल मिल जाता है। यह पूर्व जन्म के अच्छे कर्मों का ही परिणाम है।

हद्द छाड़ि बेहद गया, किया सुन्नि असनान।
मुनि जन महल न पावहीं, तहाँ किया बिसराम॥ 68॥

कबीर ने सीमित से आगे बढ़कर असीम को प्राप्त कर लिया है। अब वह शून्य के आनन्द-सागर में अवगाहन कर रहे हैं। जो स्थान बड़े-बड़े मुनियों के लिए भी दुर्लभ है, वहाँ पहुँचकर कबीर पूर्ण विश्राम कर रहे हैं।

देखौ करम कबीर का, कछु पूरब जनम का लेख।
जाका महल न मुनि लहैं सो दोसत किया अलेख॥ 69॥

कबीर कहते हैं कि यह मेरे किसी पूर्व जन्म के पुण्य का फल है कि जिस स्थान को बड़े-बड़े मुनि नहीं प्राप्त कर सकते हैं, वह मुश्किल लक्ष्य, निराकार सत्ता कबीर के लिए प्रिय के समान प्राप्त है।

मन लागा उनमन्न सौ, गगन पहूँचा जाइ।
चाँद बिहूँना चांदिना, अलख निरंजन राइ॥ 70॥

मेरा मन एक संकल्प-विकल्पात्मक अवस्था के ऊपर राम के मन में मिल गया। वहाँ मैंने एक विचित्र प्रकाश का अनुभव किया, जो कि बिना चन्द्रमा के ही चाँदनी जैसा शीतल और स्निग्ध था। मैंने वहीं उस त्रिगुणातीत, निर्गुण, निराकार सत्ता का दर्शन किया है, जो कि स्थूल इन्द्रियों की पहुँच से परे है।

मन लागा उनमन्न सो, उनमन मनहि विलग।
लौंन विलंगा पानियाँ, पानीं लौंन विलग॥ 71॥

कबीर कहते हैं कि मेरे संकल्प-विकल्पात्मक मन ने अपना स्वभाव छोड़ दिया और राम के मन में उसी प्रकार से सानिध्य हो गया जैसे नमक और जल मिलकर एक हो जाते हैं।

पानी ही तै हिम भया, हिम ह्वै गया बिलाइ।
जो कुछ था सोई भया, अब कछु कहा न जाइ॥ 72॥

मानव के भीतर जो साक्षि-चैतन्य है, जो चिन्मात्र है, वह पानी के समान है। वही चिन्मात्र अन्तःकरण से परिसीमित होकर चिदाभास का रूप ग्रहण करता है। यह चिदाभास हिम अर्थात् बर्फ के समान है, क्योंकि जल की अपेक्षा में यह

स्थूल है। जैसे बर्फ गलकर फिर पानी की अवस्था में आ जाती है, वैसे ही अन्त:करण में जो चिदाभास है, वह फिर लीन होने पर चिन्मात्र हो जाता है अर्थात् जीव ब्रह्म के रूप में आ जाता है।

भली भई जु भै पड्या, गई दसा सब भूलि।
पाला गलि पानी भया, ढुलि मिलिया उस कूलि॥ 72॥

यह बहुत अच्छा हुआ कि मैं अपनी सांसारिक दशा को भूल गया और वास्तविक स्वरूप में परिणत हो गया। यह वैसे ही है जैसे हिम परिणत होकर जल हो जाता है और लुढ़क कर किनारे के जल से विलीन हो जाता है।

चौहटै चिंतामणि चढ़ी, हाड़ी मारत हाथि।
मीराँ मुझसू मिहर करि, इब मिलौं न काहू साथि॥ 73॥

जीवन-यात्रा में मैं उस चौराहे पर पहुँच गया हूँ जहाँ प्रभु से साक्षात्कार हो गया है। परन्तु अन्तर्मन में स्थित काम, क्रोध, मोह रूपी डाकू मेरी उस अमूल्य निधि को छीन लेना चाहते हैं। हे दया के सागर मेरे ऊपर दया करो जिससे अब मैं इन सबों के चक्कर में न पड़ूँ।

पंखि उड़ानी गगन कौं, पिण्ड रहा परदेस।
पानी पीया चंचु बिनु, भूलि या यहु देस॥ 74॥

जीव रूपी पक्षी (हंस) कुण्डलिनी के सहारे सहस्त्रार तक उड़ गया अर्थात् परमतत्त्व का साक्षात्कार कर लिया और यह भौतिक शरीर अपने स्थान पर यों ही पड़ा रहा, जो कि अब उस जीव के लिए परदेश-सा हो गया है। जब जीव को परमतत्त्व का अनुभव नहीं था, तब उसके लिए शरीर स्वदेश और परमतत्त्व परदेश था। अब परमतत्त्व स्वदेश हो गया और शरीर परदेश हो गया। उसने इन्द्रियों के बिना ही आनन्द रस का पान किया और सांसारिक दशा को भूल गया अर्थात् इससे अब उसकी आसक्ति जाती रही।

सुरति समानी निरति मैं, अजपा माँहै जाप।
लेख समानां अलेख मैं, यौं आपा माँहै आप॥ 75॥

साधना की प्रगति में साधक स्थूल से सूक्ष्म, शब्द से अशब्द, प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष, साकार से निराकार, ससीम से असीम, अहंकार से निराकार की ओर बढ़ता चला जाता है और जब वह अशब्द, निराकार, अप्रत्यक्ष और निरहंकार अवस्था पर पहुँचता है, तब उसे ब्रह्म-तत्त्व का वास्तविक दर्शन होता है।

आया था संसार में, देखन कौ बहुत रूप।
कहै कबीरा संत हो, परि गया नजरि अनूप॥ 76॥

कबीर कहते हैं कि हे संतों ! मैंने संसार में अनेक रूप देखने के लिए जन्म लिया था, परन्तु इन्हीं रूपों के भीतर अनुपम तत्त्व, जो अरूप हैं, मेरी दृष्टि में पड़ गया अर्थात् मुझे अनुपम तत्त्व का दर्शन हो गया।

धरती गगन पवन नहिं होता, नहिं तोया नहिं तारा।
तब हरि हरि के जन हते, कहै कबीर विचारा॥ 77॥

कबीर कहते हैं कि सृष्टि के पूर्व पृथ्वी, आकाश, पवन, जल, अग्नि ये पाँचों तत्त्व नहीं थे। उस समय केवल हरि और उनके भक्त (जीव), अंशी और अंश ही थे।

जा दिन किरतम नां हता, नहीं हाट नहिं बाट।
हुता कबीरा राम जन, जिन देखा औघट घाट॥ 78॥

जिस समय यह सृष्टि नहीं थी, संसार रूपी बाजार नहीं था, उस समय केवल रामभक्त आदि गुरु कबीर था, जिसको लक्ष्य तक पहुँचने के कठिन और दुर्गम मार्ग का ज्ञान था।

थिति पाई मन थिर भया, सतगुरु करी सहाइ।
अनिन कथा तनि आचरी, हिरदै त्रिभुवन राइ॥ 79॥

सद्गुरु की कृपा से मैं तत्त्व में प्रतिष्ठित हो गया और मेरा मन अब स्थिर हो गया है, उसकी चंचलता जाती रही। मेरे भीतर अनन्य चरितार्थ हो गया और हृदय में भगवान त्रिभुवनपति विराजमान हो गए।

हरि संगति सीतल भया मिटी मोह की ताप।
निस बासुरि सुखनिधि लहा, (जब) अंतरिप्रगटा आप॥ 80॥

अनन्तर में आत्म-दर्शन होने पर प्रभु से तादात्म्य हो गया, मोह की ज्वाला मिट गई और मैं निरन्तर आनन्द-निधि का अनुभव कर रहा हूँ।

तन भीतरि मन मानियाँ, बाहरि कहा न जाइ।
ज्वाला तै फिरि जल भया, बुझी बलंती लाइ॥ 81॥

दर्शन मात्र होने से मन में पूर्ण निश्चय हो गया, संशय हमेशा के लिए समाप्त हो गया। उस स्थिति का मैं शब्द-व्याख्यान नहीं कर सकता। मोह की ज्वाला जल में परिणत हो गयी। जलती हुई मोह की आग पूर्ण रूप से बुझ गयी अर्थात् परिचय द्वारा पूर्ण शान्ति आ गयी।

जिनि पाया तिनि सुगहगह्या, रसनाँ लागी स्वादि।
रतन निराला पाइया, जगत ढंढोल्या बादि॥ 82॥

जिन्होंने परम तत्त्व को प्राप्त किया, उन्होंने पूर्ण रूप से हृदय में प्रतिष्ठित कर लिया है, उसके माधुर्य का उन्होंने पूर्ण रूप से आस्वादन किया। उनको एक अनुपम रत्न मिल गया है। वह अब जगत् में और कुछ ढूँढ़ना व्यर्थ समझते हैं अर्थात् परमार्थ के प्राप्त होने पर अन्य अर्थ की क्या आवश्यकता है ?

कबीर दिल साबित भया, पापा फल समरत्थ।
सायत माँहि ढँढोलता, हीरै पड़ि गया हत्थ॥ 83॥

कबीर कहते हैं कि मैं भव-सागर में अपने इष्ट को टटोल रहा था। गुरु कृपा से मेरे हाथ हीरा ही आ गया अर्थात् सर्वोत्कृष्ट इष्ट मुझे प्राप्त हो गया। फिर तो मेरा हृदय परिपूर्ण हो गया और मैंने जीवन का सर्व-अर्थकारी परमोत्कृष्ट सम्यक्-लक्ष्य प्राप्त कर लिया।

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाँहि।
प्रेम गली अति साँकरी, या में दो न समाँहि॥ 84॥

मनुष्य में जब तक अहम विद्यमान रहता है तब तक प्रभु दर्शन दुर्लभ होता है। अहम मिटते ही प्रभु से मिलन हो जाता है। प्रेम की यह विशेषता है कि यद्यपि यह प्रारम्भ दो में होता है, तथापि जब तक द्वैत बना रहता है, तब तक उसमें परिपूर्णता नहीं आती।

जा कारणि मैं ढूँढ़ता, सनमुख मिलिया आइ।
धन मैली पिव ऊजला, लागि न सक्कौं पाई। । 85॥

जिसके दर्शन के लिए मैं परेशान था वह आज मेरे सम्मुख है। परन्तु मैं इस संकोच में पड़ा हूँ कि कितना पाप-पंकिल, क्षुद्र-जीव हूँ और मेरा प्रिय कितना शुभ्र और महान् कि मैं पैर पकड़ने का भी साहस न कर सका।

जा कारणि मैं जाइ था, सोई पाया ठौर।
सोई फिरि आपन भया, जाको कहता और॥ 86॥

जिसके लिए मैं इधर-उधर भटक रहा था, उसको अपने भीतर ही पा लिया। जिसको मैं अन्य कहता था, अब देखता हूँ कि वही वास्तविक अपना है।

कबीर देखा इक अगम, महिमा कही न जाय।
तेज पुंज पारस धनी, नैननि रहा समाय॥ 87॥

भाग्योदय हुआ, उसका साक्षात्कार हुआ, जो अगम था, जिस तक किसी की पहुँच न थी। उसके गौरव और महात्म्य का वर्णन असम्भव है। वह ज्योति-पुंज है और अपने स्पर्श से पापी को भी पुण्यात्मा बनाने वाला पारस जैसा

सौभाग्यदायक है। अब वह मेरे नेत्रों में समा गया है अर्थात् मेरी दृष्टि से विलुप्त नहीं होता।

मानसरोवर सुभर जल, हंसा केलि कराहिं।
मुकताहल मुकता चुगैं, अब उड़ि अनत न जाहिं॥ 88॥

जीव सुषुम्ना मार्ग से पहुँचकर शून्य शिखर पर स्थित अमृत कुंड में केलि कर रहा है और आनन्द रूपी मोती स्वच्छन्द रूप से जी भर कर चुग रहा है। इस आनन्द को छोड़कर वह अन्यत्र सांसारिक विषयों की ओर नहीं जा सकता।

गगन गरजि अमृत चुवै, कदली कँवल प्रकास।
तहाँ कबीरा बंदगी, कै कोई निज दास॥ 89॥

आकाश के गर्जन से वह अनहद नाद जो सहस्त्रार में नित्य हुआ करता है और वहाँ से अमृत के समान शक्ति का क्षरण होता रहता है। मेरुदण्ड की सुषुम्ना नाड़ी में चक्रों का प्रकाश होता रहता है। कबीर कहते हैं कि इस अपूर्व अनुभूति के प्रत्यक्ष होने पर सिर झुक जाता है अथवा कोई और प्रभु का भक्त हो, जिसे यह अनुभूति हो जाये तो उसका सिर झुक जाएगा।

नींव बिहूनां देहुरा, देह बिहूनां देव।
कबीर तहाँ बिलंबिया, करै अलख की सेव॥ 90॥

शून्य शिखर तक पहुँचने पर जीव को एक ऐसे दिव्य भाव का दर्शन होता है, जिसका सादृश्य स्थूल जगत् में नहीं मिलता। स्थूल जगत् में सुदृढ़ नींव पर बने हुए ईंट-पत्थर के देवालय में देव का दर्शन होता है, किन्तु वहाँ पर बिना किसी नींव के देवालय में देव के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त होता है और वह देव भी निराकार होता है। कबीर उसका अनुभव कर उसमें रम गया और अलक्ष्य सत् की सेवा में लग गया।

देवल माँहे देहुरी, तिल जेता बिस्तार।
माँहे पाती माँहि जल, माँ है पूजन हार॥ 91॥

इसी शरीर रूपी देवालय में प्रवेश करने के लिए देहली विद्यमान है, जिसकी परिधि तिल के समान सूक्ष्म है। इस देवालय में बाहर से जल, पत्र आदि नहीं लाया जाता, भीतर ही पत्र है, जल है और पूजने वाला भी है।

कबीर कँवल प्रकासिया, ऊगा निर्मल सूर।
निसि अँधियारी मिटि गई, बाजे अनहद तूर॥ 92॥

कबीर कहते हैं कि सहस्त्रार के प्रकाश का भान हो गया, ज्ञान का सूर्य उदय हो गया, अज्ञान की अँधेरी रात समाप्त हो गई और अनाहत नाद की तुरही बजने लगी।

आकासे मुखि औंधा कुआँ, पाताले पनिहारि।
ताका जल कोई हंसा पीवै, बिरला आदि बिचारि॥ 93॥

गगम-मण्डल में एक सहस्त्रार रूपी अधोमुख कुआँ है जिसका मुख नीचे की ओर है, पाताल अर्थात् मूलाधार चक्र में पनिहारिन रूपी कुण्डलिनी स्थित है। जब साधना द्वारा वह सुषुम्ना मार्ग से होकर सहस्त्रार में पहुँचती है, तब शुद्ध जीव उसके अमृत-जल को पीने में समर्थ होता है। इस मूल तत्त्व पर किसी बिरले ने ही विचार किया है अर्थात् इसे कोई बिरला ही समझता है।

सिव सक्ति दिसि को जुवै, पछिम दिसा उठै धूरि।
जल में सिंह जु घर करै, मछली चढ़ै खजूरि॥ 94॥

सिद्धों, नाथ योगियों और कबीर में 'सक्ति' इड़ा का प्रतीक है और 'सिव' पिंगला का। जब मछली रूपी कुण्डलिनी ऊपर सहस्त्रार तक पहुँच जाती है, तब सिंह रूपी जीव मानसरोवर में अवगाहन करने लगता है। अर्थात् कुण्डलिनी का जागरण तभी संभव होता है, जब इड़ा-पिंगला में स्थित प्राण-अपान वायु तुल्यबल हो जाये। किन्तु कोई ऐसा विरला ही जीव है, जो इस मार्ग का अनुसंधान कर सकता है।

अमृत बरिसै हीरा निपजै, घंटा पड़ै टकसाल।
कबीर जुलाहा भया पारखी, अनुभौ उतर्या पार॥ 95॥

कबीर कहते हैं कि जब शुद्ध अनाहत नाद का परिचय हो जाता है, तब संकल्प-विकल्पात्मक मन उसी में लय को प्राप्त हो जाता है। हमने उसका परिचय प्राप्त कर लिया है और अपने अनुभव से भव-सागर के पार उतर गये हैं।

ममता मेरा क्या करै, प्रेम उघारी पौलि।
दरसन भया दयाल का, सूल भई सुख सौलि॥ 96॥

प्रभु प्रेम ने रहस्य का द्वार खोल दिया। इससे मुझको दयामय प्रभु का दर्शन हो गया। अब ममता मेरा क्या बिगाड़ सकती है? अहं और मम का भाव ही समाप्त हो गया है और भव का कष्ट सुख की चादर बन गया अर्थात् सभी दुःख आनन्द में परिणत हो गए।

:: लाँबि ::

हेरत हेरत हे सखी, रहा कबीर हिराइ।
बूँद समानी समुंद मैं, सो कत हैरी जाइ॥ 97॥

जैसे बूँद समुद्र को ढूँढते-ढूँढते जब उसमें मिल जाती है, तब उसका पृथक् अस्तित्त्व नहीं रह जाता है। वैसे ही परम को ढूँढते-ढूँढते मेरा अहं उसी में खो गया और उसका पृथक् अस्तित्त्व समाप्त हो गया। अर्थात् यह जीव जो पहले नाम-रूप को लेकर 'अहं' बना हुआ था, अब प्रभु की खोज में चलते-चलते नाम-रूप से पृथक् होकर प्रभु से तादात्म्य प्राप्त कर लिया है।

हेरत हेरत हे सखी, रहा कबीर हिराइ।
समुंद समाना बूँद मैं, सो कत हेर्या जाइ॥ 98॥

कबीर कहते हैं कि हे भाई सन्तों ! प्रभु को खोजते-खोजते मैं स्वंय खो गया। समुद्र (अंशी) ने बूँद (अंश) को आत्मसात् कर लिया। अब उस बूँद का पृथक् अस्तित्त्व कैसे खोजा जा सकता है ? अर्थात् एक बार प्रभु से आत्मसात् होने के पश्चात् उससे विरक्त नहीं हुआ जा सकता।

कबीर की साखी -2

:: चितावणी ::

कबीर नौबति आपनी, दिन दस लेहु बजाइ।
ए पुर पट्टन ए गली, बहुरि न देखहु आइ॥ 99॥

कबीर कहते हैं कि हे जीवों ! चेत जाओ। जिस वैभव में तुम लिप्त हो, वह कुछ दिनों का परचम है अर्थात् क्षणिक है। तुम्हारी मृत्यु अवश्यंभावी है। फिर इस पुर, नगर और गली को न देख सकोगे।

जिनके नौबति बाजती, मैंगल बँधते बारि।
एकै हरि के नाँव बिन, गए जनम सब हारि॥ 100॥

जिनके द्वार पर वैभव-सूचक नगाड़े बजते थे और मतवाले हाथी झूमते थे, उनका जीवन भी प्रभु के नाम-स्मरण के अभाव में सर्वथा व्यर्थ ही हो गया।

ढोल दमामा डुगडुगी, सहनाई औ भेरि।
औसर चले बजाइ करि, है कोइ लावै फेरि॥ 101॥

इस जीवन में वैभव प्रदर्शन हेतु बाजे, जैसे—ढोल, धौंसा, डुगडुगी, शहनाई और भेरी विशेष अवसरों पर बजाए जाते हैं। परन्तु जीवन इतना क्षण-भंगुर है कि जो अवसर बीत गया, उसे पुनः वापस नहीं लाया जा सकता है।

सातौ सबद जु बाजते, घरि घरि होते राग।
ते मंदिर खाली पड़े, बैठन लागे काग॥ 102॥

जिन मंदिरों और प्रासादों में सातों स्वर के बाजे बजते थे और विभिन्न प्रकार के राग गाए जाते थे, वे आज खाली पड़े हुए हैं और उन पर कौए बैठते हैं। सांसारिक वैभव की यही क्षणभंगुरता है।

कबीर थोड़ा जीवना, माड़ै बहुत मँडान।
सबही ऊभा मेल्हि गया, राव रंक सुलतान॥ 103॥

कबीर कहते हैं कि क्षणिक जीवन के लिए मनुष्य बड़े-बड़े आयोजन करता है, किन्तु चाहे वह बहुत बड़ा राजा या सुलतान हो या साधारण, दरिद्र मनुष्य, सभी की बड़े उत्साह से निर्मित योजनाएँ ध्वस्त हो जाती है। अर्थात् राजा-रंक भी जाते हैं और उनकी योनजाएँ भी ध्वस्त हो जाती हैं।

इक दिन ऐसा होइगा, सब सौ परै बिछोह।
राजा राना छत्रपति, सावधान किन होइ॥ 104॥

कबीर चेतावनी देते हैं कि चाहे कोई राजा, राणा या छत्रपति हो, सबके लिए एक ऐसा दिन आएगा, जब उसे संसार से सब कुछ त्यागकर इस लोक से जाना होगा। इसलिए हे मनुष्यों ! समय रहते ही सावधान क्यों नहीं हो जाते ?

कबीर पट्टन कारिवाँ, पंच चोर दस द्वार।
जम राना गढ़ भेलिसी, सुमिरि लेहु करतार॥ 105॥

कबीर कहते हैं कि जीव (सौदागर) इस शरीर रूपी नगर को एक सुरक्षित स्थान समझकर सारा सांसारिक व्यवहार अर्थात् व्यापार टिका हुआ है। किन्तु उसे यह ज्ञात नहीं कि इस शरीर रूपी नगर में पाँच चोर (काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह) विद्यमान हैं और इसमें दस द्वार भी हैं। यह वैसा सुरक्षित और अभेद्य दुर्ग नहीं है, जैसा कि अज्ञानी जीवों ने समझ रखा है। इस दुर्ग पर यमराज का आक्रमण भी होगा और वह क्षणभर में इस गढ़ को ध्वस्त कर देगा। इसलिए हे जीवों ! स्त्रष्टा का स्मरण कर लो।

कबीर कहा गरबियो, इस जोवन की आस।
केसू फूले दिवस दोइ, खंखर भये पलास॥ 106॥

कबीर कहते हैं कि यौवन पर गर्व करना व्यर्थ है। यह क्षणभंगुर है। पलाश के फूल के समान इसकी बहार थोड़े दिनों के लिए है। जैसे यह फूल थोड़े ही दिनों में मुरझा कर गिर जाता है, वैसे ही जवानी की प्रफुल्लता भी अल्प दिनों की होती है। कुछ दिनों के पश्चात् जैसे पलाश पत्र-पुष्प-विहीन होकर ठूँठमात्र रह जाता है, वैसे ही यह शरीर भी यौवन-विहीन होकर कंकाल मात्र रह जाता है।

कबीर कहा गरबियो, देही देखि सुरंग।
बीछड़ियाँ मिलिबो नहीं, ज्यों काँचली भुवंग॥ 107॥

कबीर कहते हैं कि इस सुन्दर शरीर को देखकर क्यों गर्व करते हो? मृत्यु होने पर यह शरीर जीव को वैसे ही फिर नहीं मिल सकता, जैसे सर्प केंचुल को त्याग देने पर पुनः उसे धारण नहीं कर सकता।

कबीर कहा गरबियो, ऊँचे देखि अवास।
काल्हि परौ भुई लोटना, ऊपरि जमिहै घास॥ 108॥

कबीरदास कहते हैं कि ऊँचे-ऊँचे महलों को देखकर क्यों गर्व करते हो? शीघ्र ही निधन होने पर जमीन के अन्दर लेटना होगा अर्थात् दफना दिए जाओगे और ऊपर घास जम जाएगी।

कबीर कहा गरबियो, चाँम पलेटे हाड़।
हैबर ऊपरि छत्र सिरि, ते भी देबा गाड़॥ 109॥

कबीरदास कहते हैं कि चमड़े से लिपटी हुई हड्डियों पर क्यों गर्व करते हो ? जो लोग श्रेष्ठ घोड़ों पर चढ़ते हैं और जिनके सिरों पर छत्र लगते हैं, वे भी एक दिन मिट्टी में दफना दिए जाते हैं।

कबीर कहा गरबियो, काल कर केस।
नाँ जानौं कहँ मारिहै, कै घर कै परदेस॥ 110॥

कबीरदास कहते हैं कि काल ने अपने हाथों से तुम्हारे केश को पकड़ रखा है। इसलिए तुम व्यर्थ में क्यों गर्व करते हो? घर हो या परदेश, वह तुम्हें कहाँ मार डालेगा यह तुम भी नहीं जानते हो।

ऐसा यहु संसार है, जैसा सैंबल फूल।
दिन दस के व्यौहार में, झूठै रंगि न भूल॥ 111॥

यह संसार सेमर के फूल के समान है, जो ऊपर से देखने में सुन्दर और मोहक प्रतीत होता है, किन्तु उसके भीतर कोई तत्त्व नहीं होता। अल्पकाल के जीवन और उसकी विरंगात्मक भुलावे में नहीं आना चाहिए।

जीवन मरन बिचारि करि, कूरे काँम निवारि।
जिहिं पंथा तोहि चालनां, सोई पंथ सँवारि॥ 112॥

कबीरदास कहते हैं कि जीवन-मरण का विचार कर अर्थात् यह समझ ले कि जीवन थोड़े दिन का है, अन्ततः मरना है। इसलिए अक्षम्य कर्मों का परित्याग कर और जिस भक्ति मार्ग पर तुझे चलना है, उसे अभी से सुधार ले।

राखनहारे बाहिरा, चिड़ियौं खाया खेत।
आधा परधा ऊबरै, चेति सकै तौ चेति॥ 113॥

तेरे आध्यात्मिक जीवन-क्षेत्र का रक्षक बाहर ही बाहर है अर्थात् तुझे कोई सद्गुरु नहीं मिला और ऊपर से विषय-वासना रूपी पक्षी तेरे खेत को खाए जा रहे हैं। तू अब भी चेत जा और थोड़ा-बहुत जो बचा सके, उसे बचा ले अर्थात् अब भी आध्यात्मिक जीवन को बाहरी आक्रमणों से सुरक्षित कर ले।

हाड़ जरै ज्यौं लाकड़ी, केस जरैं ज्यों घास।
सब तन जलता देखि करि, भया कबीर उदास॥ 114॥

मृत्यु के उपरान्त हड्डियाँ लकड़ी के समान जलती हैं और केश घास के समान। सारे शरीर को जलता देखकर कबीर को संसार से विराग हो गया।

कबीर मंदिर ढहि पड़ी, इंर्ट भई सैवार।
कोई चेजारा चिनि गया, मिला न दूजी बार॥ 115॥

कबीर कहते हैं कि अद्भुत स्त्रष्टा ने इस सुन्दर शरीर (मंदिर) को बनाया है, किन्तु एक दिन वह नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है और उसकी हड्डियों पर, जहाँ वह दफनाया जाता है, घास-फूस जम जाती है। उसका निर्माता उसी शरीर (मंदिर) को फिर बनाने के लिए नहीं मिलता।

कबीर देवल ढहि पड़ा, इंर्ट भई संवार।
करि चिजारा सौं प्रीतिड़ी, ज्यँ ढहै न दूजी बार॥ 116॥

कबीर कहते हैं कि यह शरीर रूपी देवालय ध्वस्त हो गया और इसकी इंर्टों पर घास-फूस जम गई अर्थात् शरीर का मांस और हड्डियाँ जो दफनाई गई थीं, उन पर अब घास-फूस दिखलाई देती है। हे जीव! तू इसके निर्माता प्रभु से प्रेम कर, जिससे दूसरी बार इस देवालय के ढहने का अवसर ही न आए।

कबीर मंदिर लाख का, जड़िया हीरै लालि।
दिवस चारि पा पेखनाँ, बिनसि जाइगा काल्हि॥ 117॥

कबीर कहते हैं कि यह शरीर लाक्षागृह के समान है, जो हीरे-लाल से जड़ा गया है अर्थात् बहुमूल्य बनाया गया है। किन्तु यह चार दिन का दिखावा है और अल्पकाल में ही विनष्ट हो जायगा।

कबीर धूलि सकेलि करि, पुड़ी ज बाँधी एह।
दिवस चारि का पेखनाँ, अंति खेह की खेह॥ 118॥

कबीर कहते हैं कि यह शरीर ऐसा है जैसे किसी ने धूल एकत्र कर कोई पिंड या पुड़िया बाँधकर रख दिया हो। यह तो अल्पकाल का दिखावा है। जिस मिट्टी से यह बना है, अन्ततः उसी मिट्टी में मिल जाता है।

कबीर जे धंधै तो धूलि, बिन धंधै धूलै नहीं।
ते नर बिनठे मूलि, जिनि धंधै मैं ध्याया नहीं॥ 119॥

कबीर कहते हैं कि कर्मों से भागने से काम नहीं चलेगा। यदि कर्म को करते रहोगे तो तुम्हारा अन्त:करण धुल जाएगा। तुम स्वच्छ हो जाओगे। बिना कर्म किये स्वच्छता नहीं आती। कर्म से कोई नष्ट नहीं होता। वही व्यक्ति मूलत: नष्ट हो जाते हैं, जो कर्म में ईश्वर का ध्यान नहीं रखते।

कबीर सुपनै रैनि कै, ऊघड़ि आए नैन।
जीव परा बहु लूट में, जागै लेन न देन॥ 120॥

कबीर कहते हैं कि जीवन अज्ञान रूपी रात्रि का स्वप्न है। उसमें जीव नाना प्रकार के सुख-दु:ख, लाभ-हानि का अनुभव करता है। परन्तु वे सब अनुभव स्वप्न के समान हैं। ज्ञान-चक्षु खुल जाने पर जीव को यह विश्वास हो जाता है कि अज्ञान रूपी निद्रा में पड़े हुए लाभ-हानि का जीवन स्वप्नवत् व्यर्थ है।

कबीर सुपनैं रैनि कै, पारस जीय मैं छेक।
जे सोऊँ तौ दोइ जनाँ, जे जागूँ तौ एक॥ 121॥

कबीर कहते हैं कि अज्ञान की रात्रि में जब जीव स्वप्न देखता है तो ब्रह्म और जीव में सर्वथा पृथक् प्रतीत होता है। वह जब तक इस अज्ञान-निद्रा में रहता है, तब तक आत्मा और परमात्मा दो अलग-अलग जान पड़ते हैं। जब वह अज्ञान-निद्रा से जगता है, तब उसे दोनों एक ही प्रतीत होते हैं।

कबीर इस संसार में, घने मनुष मतिहीन।
राम नाम जानै नहीं, आये टापा दीन॥ 122॥

कबीर कहते हैं कि इस संसार में अधिकतर मनुष्य सर्वथा बद्धिमान होते हुए भी वे अपनी आँखों पर अज्ञान की पट्टी बाँधे रहते हैं। इसीलिए वे राम नाम के मर्म को नहीं जानते।

कहा कियो हम आइ करि, कहा कहैंगे जाइ।
इतके भये न उत के, चाले मूल गँवाइ॥ 123॥

जीव को स्वयं पर पछतावा हो रहा है कि इस संसार में आकर हमने क्या किया, इस विषय में यहाँ से जाने के बाद प्रभु के सामने हम क्या कहेंगे ? हम न तो इस लोक के हुए, न परलोक के। हमने अपनी नैसर्गिक सरलता को भी गँवा दिया।

आया अनआया भया, जे बहु राता संसार।
पड़ा भुलावा गाफिलाँ, गये कुबुद्धी हारि॥ 124॥

जीव संसार के विषयों में इतना अनुरक्त हो जाता है कि उसका संसार में आना न आने के बराबर है अर्थात् संसार में जन्म लेकर उसे जो सीखना था, उसे वह न सीख सका। इसलिए उसका जीवन व्यर्थ हो जाता है। भुलावे में पड़कर वह गाफिल हो गया। सांसारिक विषयों के मायाजाल में वह अपनी नैसर्गिक आत्मीय चेतना खो बैठता है और अपनी कुबुद्धि के कारण जीवन की बाजी हार जाता है।

कबीर हरि की भगति बिन, ध्रिग जीवन संसार।
धूँवाँ केरा धौलहर, जातन लागै बार॥ 125॥

कबीर कहते हैं कि ऐसे जीवन को धिक्कार है, जो मानव जीवन पाकर भी प्रभु की भक्ति नहीं करता। जैसे धुएँ का महल देखने में तो बहुत प्रिय लगता है, किन्तु वह सर्वथा निस्सार होता है, वैसे ही मानव-जीवन चाहे और सब बातों में कितना सुन्दर क्यों न हो, किन्तु प्रभु-भक्ति के बिना सर्वथा सारहीन हैं।

जिहि हरि की चोरी करी, गये राम गुन भूमि।
ते बिधना बागुल रचे, रहे अरध मुखि झूलि॥ 126॥

जो प्रभु के भजन से जी चुराते हैं और राम के गुणों को भूल जाते हैं, उन्हें ब्रह्मा ने बगुले के रूप में बनाया है, जो कि मछली की खोज में नीचे सिर लटकाये रहते हैं।

माटी मलनि कुँभार की, घनी सहै सिरि लात।
इहि औसरि चेत्या नहीं, चूका अबकी घात॥ 127॥

जिस प्रकार मिट्टी को आकार ग्रहण में कुम्हार द्वारा रौंदने की क्रिया में अनेक लातें सहनी पड़ती हैं, उसी प्रकार जीव को संसार में रूप ग्रहण करने में काल और कर्मों की अनेक यातनाएँ सहनी पड़ती हैं। मानव-जीवन ही एक ऐसा अवसर है जब वह अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त कर सकता है। यदि वह इस अवसर में नहीं चेतता तो अपना दाँव हमेशा के लिए चूक जाता है और मुक्ति की प्राप्ति कठिन हो जाती है।

इहि औसरि चेत्या नहीं, पसु ज्यों पाली देह।
राम नाम जाना नहीं, अंत परी मुख खेह॥ 128॥

इस मानव-जीवन रूपी सुन्दर अवसर को पाकर भी यदि तूने परमार्थ के विषय में नहीं सोचा और पशुओं के समान केवल देह को पालने में लगा रहा

और राम-नाम के महत्त्व को नहीं पहचाना तो अन्त में तुझे नष्ट होकर मिट्टी में मिल जाना होगा।

राम नाम जाना नहीं, लागी मोटी खोरि।
काया हांडी काठ की, ना ऊँ चढ़ै बहोरि॥ 129॥

मानव शरीर पाकर यदि राम-नाम के महत्त्व को नहीं समझा तो यह जीवन ही दोषपूर्ण हो जायेगा। यह शरीर काठ की हाँड़ी के समान है, जो कि आग पर सिर्फ एक बार ही चढ़ सकती है। अर्थात् एक बार प्राण निकल जाने पर पुनः जीवन का संचार नहीं हो सकता। साधना के लिए फिर शरीर न मिलेगा, इसलिए हे जीव ! इसी जीवन में शरीर रहते ही साधना में प्रवृत्त हो जा।

राम नाम जाना नहीं, बात बिनंठी मूलि।
हरत इहाँ ही हारिया, परति पड़ी मुखि धूलि॥ 130॥

हे जीव! तूने राम नाम के यश को नहीं जाना तो फिर प्रारम्भ में ही बात बिगड़ गयी। तू इस संसार में धन, यश, कामिनी, कंचन, कादम्बिनी आदि का हरण करता रहा। परन्तु इस हरण करने में तू अपने को ही खो बैठा। तेरा मानव जीवन ही व्यर्थ हो गया और अन्ततः तेरे मुख में धूल की पर्तें जमा हो गईं अर्थात् तू मिट्टी में मिल गया।

राम नाम जाना नहीं, पाल्यो कटक कुटुम्ब।
धंधा ही में मरि गया, बाहर हुई न बंब॥ 131॥

हे जीव! तूने राम नाम के महत्त्व को नहीं जाना और अपना सारा जीवन एक सेना के समान बड़े कुटुम्ब के पालने में ही व्यतीत कर दिया। सांसारिक कृत्यों में ही विनष्ट हो गया और तेरा यशोगान, तेरी कीर्ति प्रकाशित न हो सकी।

मानुष जनम दुलभ है, होइ न बारंबार।
पाका फल जो गिरि परा, बहुरि न लागै डार॥ 132॥

यह मानव जन्म अति दुर्लभ है। मानव शरीर बार-बार नहीं मिलता। एक बार जब फल वृक्ष से गिर पड़ता है, तब वह फल शाखा से पुनः नहीं जुड़ सकता, वैसे ही एक बार मानव शरीर के क्षीण हो जाने पर वह पुनः नहीं प्राप्त हो सकता। इसलिए इस अवसर से न चूक। इस शरीर के रहते हुए प्रभु-साधना में लग जा।

कबीर हरि की भगति करि, तजि बिषिया रस चौज।
बार बार नहिं पाइए, मनिषा जन्म की मौज॥ 133॥

कबीर कहते हैं कि हे जीव! मानव जन्म का उल्लासपूर्ण शुभ अवसर बार-बार नहीं मिलता। इसलिए इस जन्म को पाकर विषय-रस के चमत्कार और आस्वाद को छोड़कर तू प्रभू की भक्ति करता रह।

कबीर यहु तन जात है, सकै तो ठौर लगाय।
कै सेवा करि साधु की, कै गोविंद गुन गाय॥ 134॥

कबीर कहते हैं कि यह मानव शरीर नश्वर है। इसलिए हे जीव! इसके रहते हुए तू इसका सदुपयोग कर ले। तू या तो सन्तों की सेवा कर अथवा गोविन्द के गुणगान से अपने जीवन को सार्थक बना।

कबीर यहु तन जात है, सकै तो लेहु बहोरि।
नांगे हाथौं ते गए, जिनके लाख करोरि॥ 135॥

कबीर कहते हैं कि हे जीव! यह तेरा मानव शरीर व्यर्थ में नष्ट हो रहा है। यह आकर्षक विषयों, सम्पत्ति के संग्रह आदि में विनष्ट हो रहा है। हो सके तो इसको इन क्षणिक सुखों और प्रलोभनों से बचा ले, क्योंकि सम्पत्ति-संग्रह से कोई लाभ न होगा। जिन्होंने लाखों-करोड़ों कमाया, वे भी इस संसार से खाली हाथ चले गये।

यह तन काचा कुंभ है, चोट चहूँ दिसि खाइ।
एक राम के नाँव बिन, जिद तदि परलै जाइ॥ 136॥

यह शरीर कच्चे घड़े के समान है। जिस प्रकार कच्चे घड़े को कुम्भकार के अनेक थपेड़े सहन करने पड़ते हैं, उसी प्रकार मनुष्य को जीवन में अनेक यातनाओं को सहन करना पड़ता है। उसे किसी ओर भी शान्ति के लिए सहारा नहीं मिलता। इसलिए हे जीव! तू राम नाम में अपना ध्यान लगा, क्योंकि तेरे जीवन का कोई ठिकाना नहीं है, वह चाहे जब विनष्ट हो सकता है।

यह तन काचा कुंभ है, लियाँ फिरै था साथि।
ठपका लागा फुटि गया, कछू न आया हाथि॥ 137॥

यह शरीर, जिसे तू बड़े गर्व के साथ लिये घूम रहा है, कच्चे घड़े के समान है, जो जरा-सा धक्का लगने से फूट जाता है और फिर कुछ भी हाथ नहीं आता। तेरा शरीर भी वैसा ही नश्वर है। इसका कोई ठिकाना नहीं।

काँची कारी जिनि करै, दिन दिन बधै बियाधि।
राम कबीरै रुचि भई, याही ओषदि साधि॥ 138॥

हे जीव ! तू टाल-मटोल की प्रवृत्ति का परित्याग कर। तेरी भव-व्याधि दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। कबीर को राम के प्रति अनुराग हो गया है,

जिससे यह उसे तंग नहीं कर पाती। हे जीव! तू भी इसी औषधि का अपने बचाव के लिए प्रयोग कर।

कबीर अपने जीव तैं, ए दोइ बातैं धोइ।
लोभ बड़ाई कारनैं, अछता मूल न खोइ॥ 139॥

कबीर कहते हैं कि हे जीव! अपने मन से तुम दो बातों को निकाल फेंको–एक तो लोग, दूसरे आत्म–प्रशंसा की तृष्णा। इन दोनों दोषों के कारण अपने पास विद्यमान आत्मा रूपी पूँजी को मत खोओ।

खंभा एक गयंद दोइ, क्यों करि बंधसि बारि।
मानि करै तौ पिउ नहीं, पीव तौ मानि निवारि॥ 140॥

हे जीव! खम्भा रूपी शरीर एक ही है और अहंभाव और प्रेम रूपी हाथी दो हैं। दोनों को तुम एक साथ कैसे बाँधोगे? यह कैसे सम्भव है? यदि तू अहंभाव में रहता है तो उसके साथ प्रिय नहीं रह सकते। यदि तू प्रिय अर्थात् प्रभु को रखना चाहता है तो मान को निकालना पड़ेगा।

दीन गँवाया दुनी सौं, दुनी न चाली साथि।
पाइ कुहाड़ा मारिया, गाफिल अपनैं हाथि॥ 141॥

हे जीव! तुमने सांसारिक मोह में अपना धर्म खो दिया, परन्तु वह संसार जिसके लिए तुमने अपना धर्म खो दिया, तेरे साथ न गयी। तू इतना अचेतन है कि अपने ही हाथों अपने पैर में तूने कुल्हाड़ी मार लिया है अर्थात् अपने मोह से तूने स्वयं अपना जीवन नष्ट कर लिया है।

यह तन तो सब बन भया, करम जु भए कुहारि।
आप आपकौं काटिहैं, कहैं कबीर बिचारि॥ 142॥

यह शरीर वन के समान है और कर्म कुल्हारी। कबीर विचार कर कहते हैं कि हे जीव! तू अपने ही कर्म रूपी कुल्हाड़ी से अपने जीवन रूपी वन को काट रहा है अर्थात् नष्ट कर रहा है।

कुल खोये कुल ऊबरै, कुल राखे कुल जाइ।
राम निकुल कुल भेंटि, सब कुल रहा समाइ॥ 143॥

जो केवल ससीम, कुटुम्ब, वंश आदि के मोह में पड़ा रहता है, वह वास्तविक कुल अर्थात् पूर्ण ब्रह्म या भूमा को खो देता है। कुटुम्ब आदि ससीम के मोह में पड़े रहने से पूर्ण या सर्वस्व की प्राप्ति नहीं हो पाती है। राम निकुल हैं उसी में तू वंश आदि ससीम का समर्पण कर दे। उसी में ससीम समाया हुआ है अर्थात् वह सब में व्याप्त है।

दुनियाँ के धौखे मुवा, चलै जु कुल की कांनि।
तब कुल किसका लाजसी, जब ले धरहिं मसांनि॥ 144॥

हे जीव! तू कुल की गौरव-वृद्धि में पड़ा रहता है। इसी कारण सांसारिक भुलावे में मारा जाता है। जब तुझे लोग 'शमशान में लिटा देंगे, तब किसका कुल लज्जित होगा ? अर्थात् जिस कुल की मर्यादा-वृद्धि में तू पड़ा रहता है, उससे तेरा सम्बन्ध ही छूट जायेगा फिर किसके कुल की प्रतिष्ठा का प्रश्न रह जायगा?

दुनियाँ भाँड़ा दुख का, भरी मुहाँमुह भूष।
अदया अल्लह राम की, कुरलै कौनी कूष॥ 145॥

यह संसार तृष्णा से लबालब भरे हुए पात्र स्वरूप है, अत: यह दु:ख का भण्डार है। इसमें पूर्ण तृप्ति के लिए प्रयास करना व्यर्थ है। अल्लाह या राम की दया के बिना यह तृष्णा समाप्त नहीं हो सकती। हे जीव! जब सारा संसार एक अतृप्त वासना का भण्डार है तो ऐसे संसार में किस खजाने के लिए चीखता रहता है?

जिहि जेवरी जग बंधिया, तू जिनि बंधै कबीर।
वैसी आटा लोन ज्यौं, सोना सवां सरीर॥ 146॥

कबीर कहते हैं कि जिस माया की रज्जु से जगत् बँधा हुआ है, तू उसमें मत फँस। यदि तू उसमें फँसता है तो तेरा यह सोने के समान बहुमूल्य शरीर अर्थात् मानव जीवन का व्यक्तित्त्व वैसे ही हो जायेगा जैसे आटा में नमक मिलाने पर इस प्रकार घुल-मिल जाता है कि उससे पृथक् नहीं किया जा सकता।

कहत सुनत जग जात है, विषय न सूझै काल।
कबीर प्यालै प्रेम के, भरि भरि पिबै रसाल॥ 147॥

उपदेशों को कहते और सुनते हुए संसार के लोगों का जीवन समाप्त होता जाता है। विषय में पड़े हुए उन्हें काल की सुधि नहीं रहती। किन्तु कबीर जैसे सन्त विषय के प्याले को मुख से नहीं लगाते। वे मधुर, प्रेम से परिपूर्ण प्याले को छक-छककर पीते हैं।

कबीर हद के जीव सौं, हित करि मुखाँ न बोलि।
जे राचे बेहद सौं, तिन सौं अंतर खोलि॥ 148॥

कबीर कहते हैं कि ससीम में फँसे हुए लोगों की संगत में मत पड़ों। उनसे अधिक प्रेम की वाणी न बोलो, अन्यथा तुम भी उनकी बातों में फँस जाओगे। जो साधक असीम में अनुरक्त हैं, उन्हीं से तुम अपने हृदय की बात कहो। उन्हीं का संगत करो और उन्हीं की बातों पर चलो।

कबीर केवल राम की, तूँ जिनि छाड़ै ओट।
घन अहरन बिच लोह ज्यौं, घनो सहै सिरि चोट॥ 149॥

कबीर कहते हैं कि हे जीव! तू केवल प्रभु का स्मरण कर, केवल उसी को अपना अवलम्ब बना। वही तुझको सब दु:खों से मुक्त कर सकता है, अन्यथा जैसे निहाई पर रखा हुआ लोहा हथौड़े की चोट से पीटा जाता है, वैसे ही तुझे सिर पर सांसारिक दु:खों की चोट सहनी पड़ेगी।

कबीर केवल राम कह, सुद्र गरीबी झालि।
कूर बड़ाई बूड़सी, भारी पड़सी कालि॥ 150॥

कबीर कहते हैं कि हे जीव! तू अपनी गरीबी को झेलते हुए केवल प्रभु का स्मरण कर। व्यर्थ का बड़प्पन नष्ट हो जायेगा और भविष्य में यह तुझे बहुत मँहगा पड़ेगा। तू उसके बोझ से दब जायेगा।

काया मंजन क्या करै, कपड़ा धोइम धोइ।
ऊजर भए न छूटिए, सुख नींदरी न सोइ॥ 151॥

कबीर कहते हैं कि हे जीव! तूने स्वच्छता के वास्तविक मर्म को नहीं समझा है। तू शरीर और कपड़ों को धोकर स्वच्छता का व्यर्थ आडम्बर करता है। वास्तविक स्वच्छता मन की है। काया और वस्त्र के स्वच्छ होने से नहीं वरन् केवल मन की स्वच्छता से ही मुक्त होगा। इसलिए बाह्य स्वच्छता को वास्तविक स्वच्छता समझकर निश्चिन्त मत रह। सर्वदा आन्तरिक परिष्कार का प्रयास करता रह।

ऊजल कपड़ा पहिरि करि, पान सुपारी खाँहि।
एकै हरि का नाँव बिन, बाँधे जमपुरि जाँहि॥ 152॥

कबीर कहते हैं कि लोग प्राय: श्वेत वस्त्र धारण करते हैं और अपने मुख को सुशोभित करने के लिए पान-सुपारी का सेवन करते हैं। किन्तु प्रभु के भजन के बिना इस बाह्य सजावट से काम नहीं चलेगा। केवल हरि-स्मरण से ही मुक्ति होगी।

तेरा संगी कोइ नहीं, सब स्वारथ बँधी लोइ।
मन परतीति न ऊपजै, जीव बेसास न होइ॥ 153॥

हे जीव! तेरा कोई परम मित्र नहीं है, सब लोग अपने-अपने स्वार्थ में बँधे हुए हैं। परन्तु तू ऐसा अज्ञानी है कि इस कटू सत्य के प्रति तेरे मन में प्रतीति नहीं होती और न तेरे हृदय में विश्वास जमता है। कोई भी तेरे साथ न जाएगा।

माँइ बिड़ाँणी बाप बिड़, हम भी मंझि बिड़ाँह।
दरिया केरी नाँव ज्यों, सँजोगे मिलि जाँहि॥ 154॥

जगत् में सारे सम्बन्ध क्षणिक और संयोगजनक हैं। माँ भी पराई है, पित भी पराया है और हम सब भी पराए लोगों के बीच में हैं। इनमें से कोई अपना निजी व्यक्ति नहीं है। संसार में हम लोग उसी प्रकार संयोगवश मिल जाते हैं जैसे भिन्न-भिन्न स्थानों से आई हुई नौकाएँ समुद्र या नदी में अकस्मात् मिल जाती है।

इत पर घर उत घर, बनिजन आए हाट।
करम किरानाँ बेंचि करि, उठि कर चाले बाट 155॥

यह संसार जीव का नैसर्गिक धाम नहीं है। वास्तविक धाम तो केशवधाम है, जहाँ से हम आए हैं। संसार एक बाजार के समान है, जहाँ पर लोग वाणिज्य के लिए आते हैं और अपना कर्म रूपी सौदा बेचकर अपने-अपने मार्ग पर चले जाते हैं। इसलिए हे जीव! संसार तेरा वास्तविक धाम नहीं है वरन् प्रभु ही तेरा वास्तविक शाश्वत धाम है।

नाँन्हाँ काती चित्त दे, मँहगे मोलि बिकाइ।
गाहक राजा राम हैं, और न नेड़ा आइ॥ 156॥

हे जीव! तू मन लगाकर बारीक कताई कर, क्योंकि बारीक सूत मँहगें दामों पर बिकता है अर्थात् तू अच्छे कर्म कर। उसका ही बड़ा मूल्य होगा और उसके ग्राहक कोई सांसारिक राजा नहीं, स्वयं प्रभु होंगे। कोई दूसरा तेरे निकट नहीं आएगा। इस माल को कोई दूसरा न खरीद सकेगा।

डागल ऊपरि दौरनां, सुख नींदड़ी न सोइ।
पुन्नैं पाए द्यौहड़े, ओछी ठौर न खोइ॥ 157॥

हे जीव! यह मानव जीवन पुष्पों की शय्या नहीं अपितु ऊबड़-खाबड़ कंटकाकीर्ण मार्ग पर दौड़ने के समान है। लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए कठिन साधना करनी पड़ेगी। क्षुद्र सांसारिक सुखों में लिप्त होकर सुख की नींद न सो। अपने शुभ कर्मों और पुण्य के प्रताप से तुझे देवालय के समान यह पवित्र मानव शरीर प्राप्त हुआ है। इसे तुच्छ कार्यों में लगाकर तू नष्ट न कर।

मैं मैं बड़ी बलाइ है, सकै तो निकसो भागि।
कब लग राखौं हे सखी, रुई पलेटी आगि॥ 158॥

अहं बुद्धि, आपा बहुत बड़ा रोग है। इसलिए तू उससे मुक्त होने का प्रयत्न कर। क्योंकि 'मैं मैं' से लिप्त बुद्धि आग से लिपटी हुई रूई के समान है, जो तेरे सारे जीवन को नष्ट कर देगी।

मैं मैं मेरी जिनि करै, मेरी मूल बिनास।
मेरी पग का पैखड़ा, मेरी गल की पास॥ 159॥

हे जीव! अहंभाव और ममत्व पैरों की बेड़ी और गले की फाँसी के समान है, अतः अहंभाव और मेरेपन से दूर रह। अन्यथा यह तेरे जीवन के मूल को ही नष्ट कर डालेगा।

कबीर नाव जरजरी, कूड़े खेवनहार।
हलके हलके तिरि गए, बूड़े जिन सिर भार॥ 160॥

कबीर कहते हैं कि भव-सागर से पार जाने के लिए यह प्राण, मनयुक्त मानव तन एक नाव के समान है। यह ऐसी नाव है, जो कि एक तो जर्जर हो चुकी है अर्थात् इसमें मोह, मद, राग, द्वेष आदि के छिद्र हो गए हैं, दूसरे इसका नाविक वासना और अहंभावयुक्त अज्ञानी मन है, जो कि सर्वथा निकम्मा है। ऐसी नाव से जीवन-यात्रा कैसे पूरी हो सकती है। जिन लोगों ने भक्ति और साधना से अपनी वासना और अहंभाव को त्याग कर अपने को हल्का कर लिया है, वे ही इस भव-सागर को पार कर सकते हैं।

:: मधि ::

कबीर मधि अंग जे को रहै, तो तिरत न लागै बार।
दुइ-दुइ अंग सूँ लाग करि, डूबत है संसार॥ 161॥

कबीर कहते हैं कि जो मध्य मार्ग का अनुसरण करता है, उसे संसार रूपी भवसागर पार करते देर नहीं लगती। जो द्वन्द्व अर्थात् सुख-दुःख, प्रवृत्ति-निवृत्ति आदि में लिप्त रहता है, वही संसार में डूबता है।

कबीर दुविधा दूरि करि, एक अंग ह्वै लागि।
यहु सीतल वहु तपपि है, दोऊ कहिए आगि॥ 162॥

कबीर कहते हैं कि संशय को छोड़कर, अतिवादी दृष्टियों को त्यागकर मध्यम वर्ग में लग जाना चाहिए। अत्यधिक शीतलता और अत्यधिक ताप दोनों अग्नि के समान विनाशक होते हैं। इसलिए मध्यम मार्ग ही श्रेष्ठ है।

अनल आकासाँ घर किया, मद्धि निरन्तर बास।
वसुधा व्योम बिरकत रहै, बिना ठौर बिस्वास॥ 163॥

एक पक्षी अन्तरिक्ष में अपना नीड़ बनाता है और आकाश तथा पृथ्वी भू-लोक और स्वर्गलोक के बीच में ही निरन्तर वास करता है। यद्यपि अन्तरिक्ष में कोई प्रत्यक्ष आश्रय नहीं है, तथापि अपने दृढ़ विश्वास से वह वहाँ स्थित रहता है। ठीक इसी प्रकार साधक को द्वन्द्वों से अलग रहकर 'सहज-समरस' अवस्था में स्थित रहना चाहिए।

बासुरि गमि नारैनि गमि, नाँ सुपिनंतर गंम।
कबीर तहाँ विलंबिया, जहाँ छाँह नहिं धंम॥ 164॥

कबीर कहते हैं कि मैं उस द्वन्द्वातीत अवस्था में स्थित हूँ जहाँ न दिन की पहुँच है, न रात की, जो स्वप्नों में भी नहीं जाना जा सकता और न जहाँ छाया है, न धूप।

जिहि पैंडै पंडित गए, दुनियाँ परी बहीर।
औघट घाटी गुर कही, तिहिं चढ़ि रहा कबीर॥ 165॥

जिस मार्ग से शास्त्र ज्ञानी पंडित और संसार की भीड़ चलती रहती है, कबीर उस मार्ग पर नहीं चले। परमतत्त्व का मार्ग अत्यन्त दुर्गम है। वह दुर्गम, कठिन और सँकरा मार्ग गुरु ने बतलाया और कबीर ने उसी मार्ग का अनुसरण कर परमतत्त्व तक आरोहण किया।

सुरग नरक मैं रहा, सतगुर के परसादि।
चरन कँवल की मौंज मैं, रहौं अंति अरु आदि॥ 166॥

सतगुरु की कृपा से मैं स्वर्ग-नरक दोनों से विरत हूँ। ये दोनों भोग के स्थल हैं। इनमें जन्म-मरण का चक्कर लगा रहता है। मैं तो निरन्तर प्रभु के चरण-कमल के आनन्द में मग्न रहता हूँ।

हिन्दू मूये राँम कहि, मूसलमान खुदाइ।
कहै कबीर सो जीवता, दुइ मैं कदे न जाइ॥ 167॥

हिन्दू लोग परमतत्त्व के लिए 'राम-राम' रटते हुए और मुसलमान 'खुदा' में सीमित करके विनष्ट हो गये। कबीर कहते हैं कि वास्तव में वही जीवित हैं, जो राम और खुदा में भेद नहीं करता और दोनों में व्याप्त अद्वैत-तत्त्व को ही देखता है। जीवन की सार्थकता इस भेद-बुद्धि से ऊपर उठना है।

दुखिया मूवा दुख कौं, सुखिया सुख कौं झूरि।
सदा अनंदी राँम के, जिनि सुख-दुख मेल्हे दूरि॥ 168॥

दु:खी व्यक्ति दु:ख के कारण पीड़ित रहता है और सुखी अधिक सुख की खोज में चिन्तित रहता है। कबीर कहते हैं कि राम के भक्त, जिन्होंने दु:ख-सुख के द्वन्द्व को त्याग दिया है, सदा आनन्द में रहते हैं।

कबीर हरदी पीयरी, चूना ऊजल भाइ।
राँम सनेही यूँ मिलै, दोनउं बरन गँवाइ॥ 169॥

कबीर कहते हैं कि हल्दी पीली होती है और चूना श्वेत रंग का होता है। परन्तु जब दोनों एक में मिलते हैं, तब एक नया लाल रंग बन जाता है। इसी

प्रकार जब राम और उनके भक्त मिलते हैं, तब न तो भक्त का अहंभाव रह जाता है और न ब्रह्म का निर्गुणत्व। वह भागवत पुरुष हो जाता है।

काबा फिर कासी भया, राँमहि भया रहीम।
मोट चून मैदा भया, बैठि कबीरा जीम॥ 170॥

सम्प्रदाय के आग्रहों को छोड़कर मध्यम मार्ग को अपनाने पर काबा, काशी हो जाता है और राम, रहीम बन जाते हैं। सम्प्रदायों की रूढ़ियाँ समाप्त हो जाती हैं। भेदों का मोटा आटा अभेद का मैदा बन जाता है। हे कबीर! तू इस अभेद रूपी मैदे का भोजन कर, स्थूल भेदों के द्वन्द्व में न पड़।

धरती उरु असमान बिचि, दोइ तूँबड़ा अबध।
षट दरसन संसै पड़ा, अरु चौरासी सिध॥ 171॥

पृथ्वी और आकाश के बीच में द्वैत-दृष्टि का तुंबा अविनाश्य है। उसका सरलता से विनाश नहीं किया जा सकता। उसी द्वैत के कारण छहों दर्शन और चौरासी सिद्ध संशय में पड़े रहते हैं तथा सत्य का अनुशरण नहीं कर पाते।

:: बेसास ::

जिनि नर हरि जठराहँ, उदिक थैं पिंड प्रकट कीयौं।
सिरे श्रवण कर चरन, जीव जीभ मुख तास दीयौ॥
उरध पाव अरध सीस, बीस पषां इम रखियौ।
अंन पान जहाँ जरै, तहाँ तैं अनल न चखियौ॥
इहि भाँति भयानक उद्र में उद्र न कबहूँ छंछरै।
कृसन कृपाल कबीर कहि, हम प्रतिपाल न क्यों करै॥ 172॥

जिस प्रभु ने गर्भ में रज-वीर्य से मानव शरीर का निर्माण किया, जिसने उसको कान, हाथ, पैर, जिह्वा, मुख आदि दिया, गर्भ में ऊपर पैर और नीचे सिर की दशा में दस मास तक सुरक्षित रखा। जिस जठराग्नि में भुक्त अन्न, जल आदि जीर्ण हो जाते हैं, वहाँ भी तू उस जठराग्नि से बचा रहा। इस प्रकार माँ के भयानक पेट में भी तेरा उदर कभी खाली नहीं रहा, तेरा पोषण मिलता रहा। जब उदर में इस परिस्थिति में उदार प्रभु तेरा पोषण करता रहा, कबीर कहते हैं तो वह कृपालु प्रभु अब तेरा प्रतिपालन क्यों न करेगा? अर्थात् हे मनुष्य! तू प्रभु की उदारता पर विश्वास रख। वह तेरी रक्षा करेगा।

भूखा भूखा क्या करै, कहा सुनावै लोग।
भाँड़ा गढ़ि जिन मुख दिया, सोई पुरवन लोग॥ 173॥

कबीर कहते हैं कि हे जीव! तू 'भूखा-भूखा' की रट क्यों लगाता है? अपनी भूख की कहानी लोगों को क्यों सुनाता है ? जिस कृपालु प्रभु ने तेरे शरीर रूपी घड़े को गढ़कर मुख दिया है, वही उदर-पूर्ति भी करेगा।

रचनाहार कौं चीन्हि लै, खाबे कौं क्या रोइ।
दिल मन्दिर मैं पैसि करि, तांनि पछेवरा सोइ॥ 174॥

हे जीव! तू अपने स्त्रष्टा को पहचान। खाने के लिए क्यों रोता है? अपने हृदय रूपी मन्दिर में प्रविष्ट होकर तू प्रत्यग्राम्य को पहचान और विश्वास रूपी चादर ओढ़कर सुख की नींद सो अर्थात् निश्चिन्त हो जा।

राँम नाँम करि बोंहड़ा, बोहौ बीज अघाइ।
खंड ब्रह्माण्ड सूखा परै, तऊ न निष्फल जाइ॥ 175॥

रामनाम का बीज धारण करो और जी-भरकर अपने जीवन-क्षेत्र में बोओ। चाहे चारों ओर सूखा पड़ जाये, कहीं भी वर्षा न हो अर्थात् चाहे जैसी विकट परिस्थिति क्यों न हो, यह रामनाम का बीज अवश्य उगेगा। वह कभी निष्फल नहीं जा सकता है। रामनाम से संसिद्धि अवश्य प्राप्त होगी।

चिंतामनि चित मैं बसै, सोई चित मैं आनि।
बिन चिंता चिंता करै, इहै प्रभु की बांनि॥ 176॥

तेरे अन्तर्मन में सभी वाछित पदार्थों को देने वाला समर्थ ईश्वरूपी चितामणि विद्यमान है। तू उसी में चित्त को लगा। प्रभु का यही स्वभाव है कि वह सबका ध्यान रखते हैं, कोई उनका चिंतन करे या न करे।

कबीर का तूँ चिंतवै, का तेरे चिंते होइ।
अनचिन्ता हरि जी करै, जो तोहि चिंति न होइ॥ 177॥

कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य! तू व्यर्थ की चिंता क्यों करता है? तेरे चिंता करने से होता भी क्या है? तेरे लिए जो आवश्यक है प्रभु बिना तेरे सोचे पूर्ण कर देते हैं, जिससे तुझे चिंता न करनी पड़े। इसलिए प्रभु में पूर्ण आस्था रख।

करम करीमाँ लिखि रहा अब कुछ लिखा न जाइ।
मासा घटै न लि बढ़ै, जौ कोटिक करै उपाय॥ 178॥

कृपालु प्रभु ने तेरे कर्मों के अनुसार फल का लेखा-जोखा तैयार कर रखा है। अब उसके आगे कुछ भी नहीं लिखा जा सकता। इसमें कुछ भी घट-बढ़ नहीं हो सकती, व्यक्ति चाहे जितना कोशिश क्यों न करे।

जाकौ जेता निरमया, ताकौं तेता होइ।
रत्ती घटै न तिल बढ़ै, जौ सिर कूटै कोई॥ 179॥

प्रभु ने जीव के लिए जितना भोग रच दिया है उतना ही उसे मिलता है। इसके अतिरिक्त उसे कुछ भी प्राप्त नहीं होता, कोई चाहे कितना ही सिर क्यों न पिट ले।

चिंता छांड़ि अचिंत रहु, साँई है समरत्थ।
पसु पंखेरू जंतु जिव, तिनकी गाँठी किसा गरत्थ॥ 180॥

हे जीव ! तू चिंता छोड़कर निश्चिंत रह। प्रभु सामर्थ्यवान है। पशु, पक्षी और अन्य जीव-जन्तुओं को भी उनकी आवश्यकता के अनुसार प्रभु ने सम्पदा एकत्र कर रखी है। जिसने उनके लिए सभी आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति की है, वही तेरे लिए करेगा।

इसंत न बाँधे गाठरी, पेट समाता होइ।
आगैं पाछैं हरि खड़ा, जो माँगै सो देइ॥ 181॥

संत में संचय की प्रवृत्ति नहीं होती। वह केवल आवश्यकता-भर पदार्थों को ग्रहण करता है अर्थात् उसमें अपरिग्रह की अपवृत्ति नहीं होती है। प्रभु सर्वव्यापी है। भक्त को जिस वस्तु की आवश्यकता होती है वह उसकी पूर्ति कर देता है।

राँम नाँम सौं दिल मिला, जम सों परा दुराइ।
मोहि भरोसा इष्ट का, बंदा नरक न जाइ।182॥

मेरा हृदय रामनाम से युक्त है। अब यमराज मेरा कुछ नहीं कर सकता। उसके अधिकार से मैं अलग हो गया हूँ। मुझे अपने इष्टदेव का पूरा भरोसा है। उनका भक्त कभी नरक में नहीं जा सकता।

कबीर तूँ काहै डरै, सिर परि हरि का हाथ।
हस्ती चढ़ि नहिं डोलिए, कूकुर भुसैं जु लाख॥ 183॥

कबीर कहते हैं कि हे जीव! प्रभु का संरक्षण हाथ तेरे ऊपर है, फिर तू क्यों विचलित होता है? जब तू हाथी पर सवार हो गया, तब क्यों भयभीत होता है? अब तो तू सुरक्षित है। तेरे पीछे चाहे लाख कुत्ते भौंकें, तुझे उनका भय नहीं करना चाहिए।

मीठा खाँड़ मधूकरी, भाँति भाँति कौ नाज।
दावा किसही का नहीं, बिना बिलायत राज॥ 184॥

भिक्षा से प्राप्त भोजन में भाँति-भाँति का अन्न रहता है। वह खाँड़ के समान मीठा होता है। उसमें किसी एक व्यक्ति का अधिकार नहीं रहता। भिक्षान्न से सन्तुष्ट ऐसा साधु बिना राज्य के ही राजा है।

माँनि महातम प्रेम रस, गरवातन गुण नेह।
ए सबही अहला गया, जबहिं कहा कछु देह॥ 185॥

किसी व्यक्ति से किसी वस्तु की याचना करते ही सम्मान, महात्म्य, प्रेमभाव, गौरव, गुण और स्नेह आदि सभी का नाश हो जाता हैं।

माँगन मरन समान है, बिरला बंचौ कोइ।
कहै कबीरा राम सौं, मति रे मँगावै मोहि॥ 186॥

माँगना मृत्यु के समान दुःखदायी है। ऐसी वृत्ति से शायद ही कोई बच पाता है। प्रत्येक को कुछ-न-कुछ आवश्यकता पड़ती रहती है और उसे माँगना पड़ता है तथापि कबीर राम से प्रार्थना करते हैं कि हे प्रभु! मैं ऐसी स्थिति में कभी न आऊँ कि मुझे कभी किसी से कुछ माँगना पड़े।

पांडर पिंजर मन भँवर, अरथ अनूपम बास।
राँम नाँम सींचा अँमी, फल लागा विस्वास॥ 187॥

शरीर कुंद की झाड़ समान है, उसके पुष्प में मनोरथ की अनुपम संगुध है। उस पर मन रूपी भ्रमर मँडराता रहता है। उस झाड़ को साधक रामनाम जप रूपी अमर प्राणदायियी शक्ति से सींचता रहता है। तब उसमें विश्वास के फल प्रफुल्लित होते हैं। यही भक्ति की सार्थकता है।

मेरि मिटी मुकता भया, पाया ब्रह्म बिसास।
अब मेरे जूजा कोइ नहीं, एक तुम्हारी आस॥ 188॥

अहं और मेरापन का भाव समाप्त हो गया। अब मैं इस सीमा से विरत् हो गया और मेरी ब्रह्म में पूर्ण आस्था हो गयी। हे प्रभु अब मेरे लिए कोई दूसरा नहीं है, केवल तुम्हारा भरोसा है।

जाके हिरदै हरि बसै, सो नर कलपै काँइ।
एकै लहरि समुंद की, दुख दालिद सब जाइ॥ 189॥

जिसके हृदय में प्रभु का निवास है, वह और किसके लिए कल्पित है ? भगवान के अनुग्रह रूपी समुद्र की एक लहर मात्र से उसके सभी दुःख और दारिद्र्य नष्ट हो जाते हैं।

पद गावै लौंलीन ह्ववै, कटी न संसै पास।
सबै पछाड़े थोथरे, एक दिना बिस्वास॥ 190॥

यदि संशय का बंधन नहीं कटा तो सर्वथा प्रभु में लीन होकर पद गाने से कुछ भी लाभ नहीं हो सकता। विश्वास-रहित सारी साधना वैसे ही व्यर्थ है जैसे बिना अन्नकण के थोथे तुष (खाली सूप) को पछोरना।

गावन ही मैं रोवना, रोवन ही मैं राग।
इक बैरागी ग्रिह करै, एक ग्रिही बैराग॥ 191॥

एक दिखावे में गाता है, किन्तु भीतर से रोता है। दूसरा ऊपर से तो रोता हुआ प्रतीत होता है, किन्तु भीतर से गाता है। ठीक इसी प्रकार एक वैरागी होते हुए भी भीतर से आसक्त रहने के कारण गृहस्थी से बँधा है और दूसरा ऊपर से घर-गृहस्थी तो बनाये हुए हैं, किन्तु भीतर से वह अनासक्त है अर्थात् उसमें सांसारिक विषयों के प्रति वास्तविक वैराग्य है।

गाया तिन पाया नहीं, अनगायाँ तै दूरि।
जिनि गाया विस्वास सौं, तिन राम रहा भरपूरि॥ 192॥

जिन्होंने बिना विश्वास के प्रभु का गुणगान किया, भक्ति का ढिंढोरा पीटा, वे प्रभु को प्राप्त करने में असमर्थ हैं, जो प्रभु का नाम लेते ही नहीं, उनसे तो वह दूर ही है। जो श्रद्धा और विश्वास के साथ राम-नाम का गुणगान करते हैं, उनके रोम-रोम में प्रभु व्याप्त रहते हैं।

:: सम्प्रथाई ::

ना कछु किया न करि सका, नाँ करने जोग सरीर।
जो कछु किया सो हरि किया (ताथै) भया कबीर-कबीर॥ 193॥

मैंने स्वयं से कुछ भी नहीं किया और न कर सकने की सामर्थ्य है। यह स्थूल शरीर किसी कार्य के योग्य नहीं है। मेरे जीवन में जो कुछ भी संभव हुआ है, वह सब प्रभु ने किया है। उन्हीं की साधना से एक साधारण व्यक्ति श्रेष्ठ कबीर हो गया।

कबीर किया कछु होत नहिं, अनकीया सब होइ।
जौ कीएं ही होत है, तौ करता औरै कोइ॥ 194॥

कबीर कहते हैं कि मनुष्य ईश्वर के अनुग्रह के बिना कुछ नहीं प्राप्त कर सकता। यदि भगवदानुग्रह प्राप्त हो जाता है तो बिना साधना किये ही सब कुछ प्राप्त हो जाता है। यदि साधना, तपस्या आदि से कुछ होता भी है तो उसका वास्तविक कर्ता कोई और नहीं प्रभु ही है।

जिसहि न कोइ तिसहि तूँ तिस सब कोइ।
दरगह तेरी साँइयाँ, नाँमहरूँम न होइ॥ 195॥

जिसका कोई नहीं है, उसका भी आश्रय तू ही है। जिसे तेरा आश्रय प्राप्त है, उसको सभी के आश्रय स्वतः प्राप्त हो जाते हैं। हे प्रभु ! तेरे दरबार में कोई वचिंत नहीं रहता अर्थात् तेरी कृपा सब को प्राप्त होती है।

एक खड़े ही ना लहैं, और खड़े बिललाइ।
साँई मेर, सुलषनां, सूतां देह जगाइ॥ 196॥

कुछ दरबार ऐसे होते हैं जहाँ कुछ लोग खड़े रहते हुए भी कुछ पाने से वचिंत रहते हैं और वहीं खड़े-खड़े बिलखते रहते हैं। परन्तु मेरा प्रभु ऐसा कृपालु है कि वह सोये हुए को भी जगाकर देता है।

सात समुंद की मसि करौं, लेखनि सब बनराइ।
धरनी सब कागद करौं, (तऊ) हरि गुन लिखा न जाइ॥ 197॥

यदि सातों समुद्रों की स्याही बना डालूँ, सारे बनराजि की लेखनी और सारी पृथ्वी को कागज के रूप में ग्रहण करूँ तो भी प्रभु के गुणों का वर्णन सम्भव नहीं।

अबरन कौं क्या बरनिये, मोपै बरनि न जाइ।
अबरन बरने बाहिरा, करि करि थका उपाइ॥ 198॥

जो अवर्णनीय है उसका वर्णन कैसे हो सकता है? मेरे लिए उसका वर्णन सम्भव नहीं है। वह वर्णन से परे है। लोग अनेक कोशिश करके थक गए किन्तु उसका वर्णन करने में असफल ही रहे।

झल बाँवे झल दाँहिनैं, झलहि मांहि व्यौंहार।
आगै पीछै झलमई, राखै सिरजनहार॥ 199॥

संसार में जीव दाहिने-बाएँ, आगे-पीछे चारों ओर ज्वाला अर्थात् त्रिताप (आधिभौतिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक) से घिरा हुआ है और उसका सारा व्यवहार इसी ज्वाला के भीतर ही सम्पन्न होता है। ऐसी परिस्थिति में प्रभु ही उसकी रक्षा कर सकते हैं। उसमें स्वयं बचने की सामर्थ्य नहीं है।

साँई मेरा बानियाँ, सहजि करै व्यौपार।
बिन डाँड़ी बिन पालरै, तौले सब संसार॥ 200॥

मेरा प्रभु अद्भुत व्यापारी है। वह सहज रूप में व्यापार करता है अर्थात् संसार के प्रत्येक व्यक्ति को उसके कर्म के अनुसार फल देता है। उसके न्याय का तराजू ऐसा है जिसमें डाँड़ी और पलड़े के बिना व्यक्ति के भाग का निर्धारण उसके कर्म के अनुसार करता है।

कबीर वार्या नाँव पर, कीया राई लौनं।
जिसहि चलावै पंथ तूँ, तिसहि भुलावै कौंन॥ 201॥

कबीर कहते हैं कि मैंने प्रभु के नाम पर अपने को पूर्णरूपेण समर्पित कर दिया है। जिसे भगवान सन्मार्ग पर लगा देता है, उसे भ्रमित कौन कर सकता है?

कबीर करनी क्या करै, जे राँम न करै सहाइ।
जिहि जिहि डाली पग धरै, सोई नइ नइ जाइ॥ 202॥

कबीर कहते हैं कि यदि मनुष्य को भगवान की सहायता न मिले तो वह अपने उपाय से क्या कर सकता है? प्रभु की सहायता के बिना साधक जिस डाल का आश्रय लेकर ऊपर चढ़ना चाहता है अर्थात् साधना में जिस मार्ग का अवलम्ब लेकर आगे बढ़ना चाहता है, वही डाल नीचे झुक जाती है और साधक के नीचे गिर जाने की आशंका उत्पन्न हो जाती है।

जदि का माइ जनमियाँ, काहू न पाया सुख।
डाली डाली मैं फिरौं, पातौं पातौं दुःख॥ 203॥

मुझे जब से माता ने जन्म दिया, मैंने कहीं सुख नहीं पाया। यदि मैं डाल-डाल पर रहता हूँ तो दुःख आगे पात-पात पर रहता है अर्थात् मैं जितना ही दुःख से बचने का उपाय करता हूँ, उतना ही दुःख प्रत्यक्ष दिखायी देती है। केवल प्रभु की शरण में ही सुख है।

साँई सौं सब होत है, बंदे ते कछु नाँहि।
राई ते परबत करै, परबत राई माँहि॥ 204॥

जीवन में जो भी कार्य हैं वह प्रभु की कृपा से ही पूर्ण होता है, सेवक के प्रयत्न से नहीं हो सकता। प्रभु ऐसी शक्ति है कि वह राई को पर्वत और पर्वत को राई में बदल सकता है अर्थात् क्षुद्र को महान् और महान् को क्षुद्र बना सकता है।

:: कुसबद ::

अनी सुहेली सेल की, पड़तां लेइ उसास।
चोट सहारै सबद की, तास गुरु में दास॥ 205॥

भाले की नोंक की चोट को ता सहा जा सकता है। भाला लगने पर मनुष्य एक बार व्यथा की श्वास तो निकाल भी सकता है, किन्तु दुर्वचन की चोट असह्य होती है। उसे सहन करने की क्षमता जिसमें होती है, कबीर उसे अपना गुरु मानने को तैयार हैं। अर्थात् कटु वचन सहनेवाले व्यक्ति संसार में विरले ही मिलते हैं।

खोद खाद धरती सहै, काट कूट बनराइ।
कुटिल बचन साधू सहै, दूजै सहा न जाइ॥ 206॥

सहन करने की क्षमता केवल महान लोगों में होती है। विशाल धरती में ही यह क्षमता होती है कि वह खोदाई के कष्ट को झेले, सुविस्तृत वनराजि में

ही यह क्षमता है कि वह काट-कूट को सहन कर सके। इसी प्रकार विशाल हृदयमयी प्रभु-भक्त में ही यह क्षमता व्याप्त होती है कि वह लोगों के दुर्वचन वचन सहता है। अन्य लोगों में यह सहन शक्ति नहीं होती।

सीतलता तब जानिए, समता रहै समाइ।
पख छाड़ै निरपख रहै, सबद न दूखा जाइ॥ 207॥

मनुष्य में वास्तविक शीतलता का गुण तब समझना चाहिए, जब उसमें समत्व का भाव आ जाय, मान-अपमान की भावना से विवर्जित हो जाय और जब वह पक्ष छोड़कर सर्वथा निष्पक्ष हो जाय। तब दुर्वचन उसे दुरूखित नहीं कर सकते।

कबीर सीतलता भई, पाया ब्रह्म गियान।
जिहि बैसंदर जग जलै, सो मेरे उदक समान॥ 208॥

जब मेरे भीतर ब्रह्म-ज्ञान जगा तो समत्वजनित शीतलता व्याप्त हो गयी। जिस दुर्वचनरूपी अग्नि से सारा संसार जल रहा है, वह मेरे लिए जल के समान शीतल हो गया।

:: सबद ::

कबीर सबद सरीर मैं, बिन गुन बाजै तांति।
बाहर भीतर रमि रहा, तातैं छूटि भरांति॥ 209॥

कबीर कहते हैं कि मेरे भीतर अनाहत नाद बिना तारों के वाद्ययन्त्र की ध्वनि के समान गूँजे रहा है। वह भीतर-बाहर चारों ओर रम रहा है। फलस्वरूप मेरा चित्त शब्द-ब्रह्म में लीन हो गया है और इससे मेरी सारी भ्रान्तियाँ जाती रही हैं।

सती संतोषी सावधान, सबदभेद सुबिचार।
सतगुर के परसाद तैं, सहज शील मत सार॥ 210॥

जो साधक सत्यनिष्ठ है, सहनशील है और अवधानपूर्वक सभी ध्वनियों के रहस्य पर भली-भाँति विचार करता है, वह सत्गुरु की कृपा से उस सहज अवस्था को प्राप्त करता है, जो सब मतों का सार है।

सतगुर ऐसा चाहिए, जस सिकलीगर होइ।
सबद मसकला फेरि करि, देह दर्पन, करै सोइ॥ 211॥

सत्गुरु को सिकलीगर अर्थात् सान धराने वाले के समान होना चाहिए, जो शब्द के मसकले द्वारा शिष्य को दर्पण के सदृश निर्मल कर देता है। अर्थात् गुरु ऐसा हो, जो सुरति-शब्द-योग की साधना द्वारा शिष्य के सब दूषित संस्कारों को अपसारित कर उसका अन्त:करण बिल्कुल निर्मल कर दे।

हरि रस जे जन बेधिया, सर गुण सींगणि नाँहि।
लागी चोट सरीर मैं, करक कलेजे माँहि॥ 212॥

सत्गुरु अपने शब्द को बड़े ही आश्चर्य ढंग से संचालित करता है। वह न तो शर अर्थात् बाण का प्रयोग करता है और गुण अर्थात् प्रत्यंचा तथा सींगणि अर्थात् धनुष का। फिर भी उसके द्वारा प्रवाहित भक्ति-रस से जो बिद्ध होते हैं, उन पर अद्भुत प्रभाव पड़ता है। उस शब्द की चोट तो लगती है शरीर में, किन्तु उसकी टीस हृदय तक प्रवेश कर जाती है।

ज्यों ज्यों हरि गुन साँभलूँ, त्यों त्यों लागै तीर।
साँठी साँठी झड़ि पड़ी, भलका रहा सरीर॥ 213॥

मैं ज्यों-ज्यों प्रभु के गुणों का स्मरण करता हूँ, त्यों-त्यों वियोग का बाण मेरे अन्तस्तम में प्रविष्ट होता जाता है और वह बाण ऐसे भयंकर रूप में लगता है कि उसका सरकंडा तो टूटकर अलग हो जाता है, किन्तु उसका फलक भीतर ही बिंधा रह जाता है। इसलिए उसको निकालना असंभव हो जाता है।

ज्यौं ज्यौं हरि गुण साँभलौं, त्यौं त्यौं लागै तीर।
लागे ते भागै नहीं, साहनहार कबीर॥ 214॥

मैं जितना ही प्रभु के गुण का स्मरण करता हूँ, उतना ही मिलन की उत्कण्ठा तीव्र होती जाती है और विरह की वेदना तीर के समान चोट करती है। किन्तु कबीर उस वेदना से भागने वाला नहीं है। वह धैर्य से उसको सहन करता है।

सारा बहुत पुकारिया, पीर पुकारै और।
लागी चोट जु सबद की, रहा कबीरा ठौर॥ 215॥

प्राय: सारे लोग जोर-जोर से पुकारते हैं, किन्तु उनकी पुकार बनावटी होती है। वास्तविक वेदना की पुकार कुछ और ही होती है। गुरु के शब्द की चोट लगने पर कबीर जहाँ-का-तहाँ रह गया। उसमें पुकारने की भी शक्ति शेष न रह गयी।

4

कबीर के दोहे

कस्तूरी कुन्डल बसे, मृग ढूंढै बन माहि।
ऐसे घट-घट राम हैं, दुनिया देखे नाहि।।
कामी, क्रोधी, लालची, इनसे भक्ति न होय।
भक्ति करे कोई सूरमा, जाति वरन् कुल खोय।।
काल करै सो आज कर, आज करै सो अब।
पल में प्रलय होयगी, बहुरि करेगौ कब।।
कामी लज्जा ना करै, न माहें अहिलाद।
नींद न माँगै साँथरा, भूख न माँगे स्वाद।।
कांकर पाथर जोरि कै मस्जिद लई बनाय।
ता चढि मुल्ला बांग दे क्या बहरा हुआ खुदाय।।
करता था सो क्यों किया, अब करि क्यों पछताय।
बोवे पेड बबूल का, आम कहां से खाय।।
काल करे सो आज कर, आज करे सो अब।
पल में प्रलय होएगी, बहुरि करेगा कब।।
कर बहियां बल आपनी, छोड़ बीरानी आस।
जाके आंगन नदि बहे, सो कस मरत प्यास।।
कथनी कथी तो क्या भया जो करनी ना ठहराइ।
कालबूत के कोट ज्यूं देखत ही ढहि जाइ।।

कबीरा गरब न कीजिये, कबहूं न हंसिये कोय।
अबहूं नाव समुंद्र में, का जाने का होय।।
कबीरा गर्व ना किजिये, ऊँचा देख आवास।
काल परौ भुइं लेटना, ऊपर जमसी घास।।
कबीरा खड़ा बजार में, सब की चाहे खैर।
ना काहू से दोस्ती, ना काहू से बैर।।
कबीरा सोई पीर हैं, जो जाने पर पीर।
जो पर पीर न जानई, सो काफिर बेपीर।।
कबीरा ते नर अँध है, गुरु को कहते और।
हरि रूठे गुरु ठौर है, गुरु रूठे नहीं ठौर।।
कबीरा सोया क्या करे, उठि न भजे भगवान।
जम जब घर ले जायेंगे, पड़ी रहेगी म्यान।।
कबीर सुता क्या करे, करे काज निवार।
जिस पंथ तू चलना, तो पंथ संवार।।
कबीर माला काठ की, कहि समझावै तोहि।
मन न फिरावै आपणा, कहा फिरावै मोहि।।
कबीर तूं काहै डरै, सिर पर हरि का हाथ।
हस्ती चढ़ि नहि डोलिये, कुकर भूखे साथ।।
कबीर घोड़ा प्रेम का, चेतनि चढ़ि असवार।
ग्यान षड्ग गहि, काल सिरि, भली मचाई मार।।
कबीर रेख स्यंदूर की, काजल दिया न जाइ।
नैनूं रमैया रमि रह्या, दूजा कहाँ समाइ।।
कबीर नवै सब आपको, पर को नवै न कोय।
घालि तराजू तौलिये, नवै सो भारी होय।।
सूरा के मैदान में, कायर का क्या काम।
कायर भागे पीठ दे, सूरा करे संग्राम।।
सतनाम जाने बिना, हंस लोक नहिं जाए।
ज्ञानी पंडित सूरमा, कर कर मुये उपाय।।
सुख में सुमिरन ना किया, दुःख में करते याद।
कह कबीर ता दास की, कौन सुने फरियाद।।
साई इतना दीजिए जामें कुटुंब समाय।

मैं भी भूखा ना रहूं साधु न भूखा जाय।।
सुमिरन करहु राम का, काल गहै है केस।
न जानो कब मारिहै, का घर का परदेस।।
सांच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।
जाके हिरदय सांच हें, वाके हिरदय आप।।
सहज सहज सब कोऊ कहै, सहज न चीन्है कोइ।
जिन्ह सहजैं विषया तजी, सहज कहीजै सोइ।
सुखिया सब संसार है खावै और सोवै।
दुखिया दास कबीर है जागै अरू रोवै।।
सात समंदर की मसि करौं लेखनि सब बनराइ।
धरती सब कागद करौं हरि गुण लिखा न जाइ।।
सतगुरु मिला जु जानिये, ज्ञान उजाला होय।
भ्रम का भांड तोड़ि करि, रहै निराला होय।।
साधु ऐसा चाहिए जैसा सूप सुभाय।
सार-सार को गहि रहै थोथा देई उडाय।।
साधू गाँठ न बाँधई उदर समाता लेय।
आगे पाछे हरी खड़े जब माँगे तब देय।।
शीलवन्त सबसे बड़ा, सब रतनन की खान।
तीन लोक की सम्पदा, रही शील में आन।।
जो तोको कांटा बुवै, ताहि बोओ तू फूल।
ताहि फूल को फूल हैं, वाको हैं तिरसूल।।
जो जल बाढ़े नांव में, घर में बाढ़े दाम।
दोऊ हाथ उलीचिये, यही सयानो काम।।
जो गुरु ते भ्रम न मिटे, भ्रान्ति न जिसका जाय।
सो गुरु झूठा जानिये, त्यागत देर न लाय।।
जिन खोजा तिन पाइयां, गहरे पानी पैठ।
मैं बौरी बन डरी, रही किनारे बैठ।।
जाति न पूछो साधु की, पूछ लीजिए ज्ञान।
मोल करो तलवार का, पड़ा रहन दो म्यान।।
जग में बैरी कोई नहीं, जो मन शीतल होय।
यह आपा तो ड़ाल दे, दया करे सब कोय।।

जहाँ काम तहाँ नाम नहिं, जहाँ नाम नहिं वहाँ काम।
दोनों कबहूँ नहिं मिले, रवि रजनी इक धाम।।
जहां दया तहं धर्म है, जहां लोभ तहं पाप।
जहां क्रोध तहं काल है, जहां क्षमा आप।।
जैसे तिल में तेल है, ज्यों चकमक में आग।
तेरा साई तुझ में है, तू जाग सके तो जाग।।
जब में था हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाहिं।
सब अंधियारा मिटी गया, जब दीपक देख्या माहिं।।
जब तूं आया जगत् में, लोग हसें तू रोए।
एसी करनी ना करी, पाछे हसें सब कोए।।
जीवत समझे जीवत बुझे, जीवत ही करो आस।
जीवत करम की फाँस न काटी, मुए मुक्ति की आस।।
जेहि खोजत ब्रह्मा थके, सुर नर मुनि अरु देव।
कहै कबीर सुन साधवा, करु सतगुरु की सेव।।
ज्यों नैनों में पुतली, त्यों मालिक घट माहिं।
मूरख लोग ना जानहीं, बाहिर ढूंढ़न जाहिं ।।
पोथी पढ़-पढ़ जग मुआ, पंड़ित भया न कोय।
ढाई आखर प्रेम का, पढ़े सो पंड़ित होय।।
प्रेम न बाड़ी ऊपजै, प्रेम न हाट बिकाय।
राजा परजा जेहि रूचौ, सीस देइ ले जाय।।
पतिबरता मैली भली, गले काँच को पोत।
सब सखियन में यों दिपै, ज्यों रवि ससि की जोत।।
पूरब दिसा हरि को बासा, पश्चिम अलह मुकामा।
दिल महं खोजु, दिलहि में खोजो यही करीमा रामा।।
पाँच पहर धन्धे गया, तीन पहर गया सोय।
एक पहर हरि नाम बिन, मुक्ति कैसे होय।।
पहले अगन बिरहा की, पाछे प्रेम की प्यास।
कहे कबीर तब जानिए, नाम मिलन की आस।।
पाहन पूजै हरि मिले, तो मैं पूजूं पहार।
ताते यह चाकी भली, पीस खाए संसार।।
परनारी का राचणौ, जिसकी लहसण की खानि।

खूणैं बेसिर खाइय, परगट होइ दिवानि।।
परनारी राता फिरैं, चोरी बिढ़िता खाहिं।
दिवस चारि सरसा रहै, अति समूला जाहिं।।
पूरा सतगुरु न मिला, सुनी अधूरी सीख।
स्वाँग यती का पहिनि के, घर घर माँगी भीख।।
चलती चक्की देखि कै, दिया कबीरा रोय।
दुइ पट भीतर आइ कै, साबित गया न कोय।।
चारिउं वेदि पठाहि, हरि सूं न लाया हेत।
बालि कबीरा ले गया, पंडित ढूंढे खेत।।
चाह गई चिंता मिटी, मनुआ बेपरवाह।
जिसको कुछ नहीं चाहिए वह शहनशाह।।
माली आवत देख कै कलियन करी पुकार।
फूली फूली चुन लिए, काल्हि हमारी बार।।
माला फेरत जुग भया, फिरा न मन का फेर।
कर का मन का डार दे, मन का मनका फेर।।
माया मरी न मन मरा, मर-मर गए शरीर।
आशा तृष्णा न मरी, कह गए दास कबीर।।
माया दीपक नर पतंग, भ्रमि भ्रमि ईवै पडंत।
कहै कबीर गुरु ज्ञान ते, एक आध उबरंत।।
मन माया तो एक हैं, माया नहीं समाय।
तीन लोक संसय परा, काहि कहूं समझाय।।
माटी कहे कुम्हार से, तु क्या रौंदे मोय।
एक दिन ऐसा आएगा, मैं रौंदूगी तोय।।
मूरख संग ना कीजिए, लोहा जल ना तिराइ।
कदली, सीप, भुजंग-मुख, एक बूंद तिहँ भाइ।।
मांगण मरण समान है, बिरता बंचौ कोई।
कहै कबीर रघुनाथ सूं, मति रे मंगावे मोहि।।
मुंड मुंडावत दिन गए, अजहूँ न मिलिया राम।
राम नाम कहू क्या करे, जे मन के औरे काम।।
मूल ध्यान गुरु रूप है, मूल पूजा गुरु पाँव।
मूल नाम गुरु वचन है, मूल सत्य सतभाव।।

एक राम दशरथ का प्यारा, एक राम का सकल पसारा।
एक राम घट घट में छा रहा, एक राम दुनिया से न्यारा।।
एकै साध सब सधै, सब साधे सब जाय।
जो तू सींचे मूल को, फूले फल अघाय।।
ऐसी बानी बोलिए, मन का आपा खोइ।
आपन को सीतल करे, और हु सीतल होइ।।
एक कहूँ तो है नहीं, दो कहूँ तो गारी।
है जैसा तैसा रहे, कहे कबीर बिचारी।।
धरती सब कागद करूं, लेखनी सब बनराय।
साह सुमुंद्र की मसि करूं, गुरु गुण लिखा न जाय।।
धीरे-धीरे रे मना, धीरे सब कुछ होय।
माली सींचे सौ घड़ा, ऋतु आए फल होय।।
रज गुन ब्रह्मा तम गुन संकर सत्त गुन हरि सोई।
कहै कबीर राम रमि रहिये हिन्दू तुरक न कोई।।
रात गंवाई सोय के, दिवस गंवाया खाय।
हीरा जन्म अमोल था, कोड़ी बदले जाय।।
लाली मेरे लाल की जित देखों तित लाल।
लाली देखन मैं चली, हो गई लाल गुलाल।।
लूट सके तो लूट ले, राम नाम की लूट।
पाछे फिरे पछताओगे, प्राण जाहिं जब छूट।।
ऊंचे कुल का जनमिया, जे करणी ऊंच होइ।
सुबण कलस सुरा भरा, साधू निन्दै सोइ।।
उठा बगुला प्रेम का तिनका चढ़ा अकास।
तिनका तिनके से मिला तिन का तिन के पास।।
गुरु गोबिंद दोऊ खड़े, का के लागूं पाय।
बलिहारी गुरु आपनै, गोबिंद दियो मिलाय।।
गुरु कीजिए जानि के, पानी पीजै छानि।
बिना विचारे गुरु करे, परे चौरासी खानि।।
गुरु किया है देह का, सतगुरु चीन्हा नाहिं।
भवसागर के जाल में, फिर फिर गोता खाहि।।
गुरु लोभ शिष लालची, दोनों खेले दाँव।
दोनों बूड़े बापुरे, चढ़ि पाथर की नाँव।।

गाँठि न थामहिं बाँध ही, नहिं नारी सो नेह।
कह कबीर वा साधु की, हम चरनन की खेह।।
हीरा पड़ा बाजार में, रहा छार लपटाय।
बहुतक मूरख चलि गए, पारख लिया उठायघ
तिनका कबहुँ ना निंदये, जो पाँव तले होय।
कबहुँ उड़ आँखों पड़े, पीर घानेरी होय।।
बुरा जो देखन मैं चल्या, बुरा न मिलिया कोय।
जो दिल खोजा आपना, मुझसा बुरा न कोय।।
बड़ा हुआ तो क्या हुआ जैसे पेड़ खजूर।
पंथी को छाया नहीं फल लागे अति दूर।।
बोली एक अनमोल है, जो कोइ बोलै जानि।
हिये तराजू तौल के, तब मुख बाहर आनि।।
दोष पराए देख कर चल्या हंसत हंसत।
अपनै चीति न आबई जाको आदि न अंत:।।
दर्शन करना है तो, दर्पण माँजत रहिये।
दर्पण में लगी कई, तो दर्श कहाँ से पाई।।
दु:ख में सुमिरन सब करे सुख में करै न कोय।
जो सुख में सुमिरन करे दु:ख काहे को होय ।।
नये धोये क्या हुआ, जो मन मैल न जाय।
मीन सदा जल में रहै, धोये बास न जाय।।
निंदक नियरे राखिए, आँगन कुटी छवाय।
बिन पानी, साबुन बिना, निर्मल करे सुभाय।।
आय हैं सो जाएँगे, राजा रंक फकीर।
एक सिंहासन चढ़ि चले, एक बँधे जात जंजीर।।
अकथ कहानी प्रेम की, कुछ कही न जाये।
गूंगे केरी सर्करा, बैठे मुस्काए।
अति का भला न बोलना, अति की भली न चुप।
अति का भला न बरसना, अति की भली न धूप।
यह तन विष की बेल री, गुरु अमृत की खान।
सीस दिये जो गुरु मिलै, तो भी सस्ता जान।।

5

कबीर का रहस्यवाद

रहस्यवाद वह भावनात्मक अभिव्यक्ति है जिसमें कोई व्यक्ति या रचनाकार उस अलौकिक, परम, अव्यक्त सत्ता से अपना प्रेम प्रकट करता है, जो सम्पूर्ण सृष्टि का आधार है। वह उस अलौकिक तत्त्व में डूब जाना चाहता है। और ऐसा करके जब उसे चरम आनंद की अनुभूति होती है तब वह इस अनुभूति को बाह्य जगत में व्यक्त करने का प्रयास करता है, किन्तु इसमें अत्यंत कठिनाई होती है। लौकिक भाषा और वस्तुएं उस आनंद को व्यक्त नहीं कर सकती। इसलिए उसे उस पारलौकिक आनंद को व्यक्त करने के लिए प्रतीकों का सहारा लेना पड़ता है, जो आम जनता के लिए रहस्य बन जाते हैं।

हिंदी साहित्य में रहस्यवाद सर्वप्रथम मध्य काल में दिखाई पड़ता है। संत या निर्गुण काव्यधारा में कबीर के यहाँ, तथा प्रेममार्गी या सूफी काव्यधारा में जायसी के यहाँ रहस्यवाद का प्रयोग हुआ है। दोनों परम सत्ता से जुड़ना चाहते हैं और उसमें लीन होना चाहते हैं—कबीर योग के माध्यम से तथा जायसी प्रेम के माध्यम से, इसलिए कबीर का रहस्यवाद अंतर्मुखी व साधनात्मक रहस्यवाद है तथा जायसी का बहिर्मुखी व भावनात्मक रहस्यवाद है।

रहस्यवाद के अंतर्गत प्रेम के स्तर

- प्रथम स्तर है अलौकिक सत्ता के प्रति आकर्षण।
- द्वितीय स्तर है उस अलौकिक सत्ता के प्रति दृढ़ अनुराग।

- तृतीय स्तर है विरहानुभूति।
- चौथा स्तर है मिलन का मधुर आनंद।

आधुनिक काल में भी छायावाद में रहस्यवाद दिखाई पड़ता है। महादेवी वर्मा के काव्य में रहस्यवाद की पर्याप्तता है, लेकिन आधुनिक काल में रहस्यवाद उस अमूर्त, अलौकिक या परम सत्ता से जुड़ने की चाहत के कारण नहीं उत्पन्न हुआ अपितु यह लौकिक प्रेम में आ रही बाधाओं की वजह से उत्पन्न हुआ है। महादेवी और निराला में आध्यात्मिक प्रेम का मार्मिक अंकन मिलता है। यद्यपि छायावाद और रहस्यवाद में विषय की दृष्टि से अंतर है—जहाँ रहस्यवाद का विषय आलंबन अमूर्त, निराकार ब्रह्म है, जो सर्व व्यापक है, वहाँ छायावाद का विषय लौकिक ही होता है। रहस्यवाद शब्द का प्रयोग चाहे जितना नया हो, रहस्यमयी सत्ता की प्रतीति और उसे मानवीय अनुभव की परिधि में लाकर उसके मधुरतम व्यक्तित्त्व की कल्पना तथा उससे आत्मिक सम्बंध स्थापना की प्रवृत्ति विश्व के सभी धर्मों में किसी न किसी रूप में पाई जाती है। इसी धरातल को रहस्यवाद स्वरूप ग्रहण करता है।

कबीर भक्त पहले थे, ज्ञानी बाद में। कबीर की मूल अनुभूति अद्वैत की है, लेकिन कबीर ने उसे रहस्यवाद के रूप में व्यक्त किया है। कबीर वेदांत के अद्वैत से रहस्यवाद की भूमि पर आए है। उनका रहस्यवाद उपनिषदों के ऋषियों के समान रहस्यवाद हैं, जो अद्वैत के अंतर्विरोधों में समन्वय करने वाली अनुभूति है। वे सगुण की अपेक्ष निर्गुण ब्रह्म के उपासक हैं। इस कारण उनका भगवत-प्रेम रहस्यवाद कहलाया। कबीर ने अद्वैत ज्ञान, प्रेममूलक भक्ति और रहस्यवाद के मिश्रण से निर्गुण भक्ति में मौलिक स्थापना की। रहस्यवादी प्रेम को अपनाने के कारण उनकी भक्ति में सुगण भक्ति जैसी सरसता आ गई।

कबीर ने जीवात्मा-परमात्मा के प्रेम का सीधा-सीधा चित्रण किया है। उन्होंने इसके लिए सूफी कवियों के समान कथा-रूपकों का प्रयोग नहीं किया है। परमात्मा से प्रेम को साकार व अनुभवजनित रूप देने के लिए कबीर को प्रतीकों, रूपकों व अन्योक्तियों का अवश्य आश्रय लेना पड़ा। ये प्रतीक कबीर के आध्यात्मिक प्रेम को व्यक्त करते हैं। इनमें कहीं भी लौकिक पक्ष का समावेश नहीं हुआ है। गुरु की कृपा से उनके भीतर ईश्वर के प्रति अनुराग उत्पन्न होता है। इससे उनके हृदय-चक्षु भूल जाते हैं तथा उन्हें उस परमात्मा सत्ता के दर्शन होते हैं। तब कबीर अत्यंत आनंदित हो जाते हैं। इस आनंद की वर्षा में उनका अंग-प्रत्यंग भीग जाता है।

"कबीर बादल प्रेम का, हम पर बरसा आय।
अंतर भीगी आत्मा, हरी भई बनराय। ।"

प्रेम की इस प्रचंड अनुभूति से सारा विश्व चेतन स्वरूप व आनंद रस में डूबा दिखाई पडता है। तन साधक संसार से विरक्ति हो जाती है। जगत विषय-भोगों का मकड़जाल अनुभव होता है। इससे मुक्ति का एकमात्र उपाय ईश्वर का पावन स्मरण ही है।

कबीर के हृदय में प्रभु-मिलन का असीम उत्कंठा जागृत होती है। इससे उनके भीतर की वेदना और गहरा जाती है। उनकी आत्मा न तो परमात्मा को बुला ही पाती है और न ही वहाँ परमात्मा तक पहुँच पाती है ---

"आइ न सकौ तुझ पै, सकूं न बुझ बुलाइ।
जियश यौ ही लेहुंगे, विरह तपाइ तपाई। ।"

कबीर की विरह-व्यथा अत्यंत तीव्र व्यथा है। यह व्यथा चरम सीमा तक पहुंच जाती है और जीवात्मा अपने स्व को मिटाकर अपने प्रियतम के दर्शन करना चाहती है। परमात्मा को पाने के लिए कबीर बहुत भटकते हैं, वे उन्हें फिर भी पा नहीं पाते।

कबीर के काव्य में अनुभव की अत्यंत तीव्रता है। कबीर ने जीवात्मा और परमात्मा के इस प्रेम को पति-पत्नी के रूप में चित्रित किया है। कबीर ने कई बार पत्नी के रूपक में तो अधिकांश साखियाँ ऐसी कही हैं, जिनमें पुल्लिंग का प्रयोग जीवात्मा के लिए किया है। कहीं- कहीं कबीर ने इसे अन्य संबंधों के रूप में भी माना है। कबीर ने पिता-पुत्र के संबंध के माध्यम से भी इस प्रेम का चित्रण किया है ---

"पूत पियारो जगत् को, गौहनि लागा धाइ।
लोभ मिठाई हाथ दै, आपण गया भुलाइ। ।"

जैसे-जैसे जीवात्मा और परमात्मा के मिलन की प्रगाढ़ता बढ़ती है। परिचय और मिलन की अनुभूति में परमात्मा व जीवात्मा की द्वैतता मिटती जाती है। रहस्यवादी की दृष्टि में इन अवस्थाओं में ससीम जीवात्मा का असीम परमात्मा में विलय हो जाता है और ऐसी स्थिति में रहस्यवादी कबीर की पूर्ण निष्ठा अद्वैत में ही होती है।

कबीर की साखियाँ "परचौ कौ अंग" में ऐसी साखियाँ हैं, जो एक ओर कबीर के भावनात्मक रहस्यवादी स्वरूप को स्पष्ट करती हैं, तो दूसरी ओर उनके आत्मज्ञानी स्वरूप को इस अनुभूति का आधार अद्वैत वेदांत है। कबीर ने

जीवात्मा के परमतत्त्व के रूप में परिणत हो जाने की अनुभूति के साक्षात्कार को पानी और हिम के उदाहरण व्दारा समझाया है -----

"पानी ही ते हिम भया, हिम हू गया बिलाय।
कबीरा जो था सोई भया, अब कछु कहा न जाय। ।"

इस अवस्था में "मै" और "तू" का अंतर नहीं रहता है। धीरे - धीरे यह "मैं" "तू" में समा जाता है। यह बूँद के समुद्र में समाने और समुद्र के बूँद में समाने की प्रक्रिया है। मन का भ्रम दूर हो जाने पर कबीर को परब्रह्म का साक्षात्कार होता है। कबीर इस परब्रह्म स्वरूप में समा जाते हैं। इस अवस्था में आने के पश्चात् रहस्यवादी के लिए संसार की समस्त विषमताएँ आनंददायक हो जाती हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि कबीर पाश्यात्य या सूफी परंपरा के रहस्यवादी मात्र नहीं थे, बल्कि उनमें भारतीय तत्त्व भी है। जैसे अद्वैत वेदांती का ज्ञान, वैष्णवों का अनन्य प्रेम, रहस्यवादियों की भावनात्मक एकता एवं योगियों का साधना से प्राप्त परमानंद। कबीर ने रहस्यवादी साधना के मार्ग पर चलकर निर्गुण व निराकार ईश्वर की भक्ति का वह रुखापन दूर किया, जिसके कारण व्यक्ति इससे अधिक निकटता अनुभव नहीं करते थे। ऐसा करके कबीर ने निर्गुण की साधना व उपासना में भी मिठास लाया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कबीर की भक्ति को रहस्यवाद से जोड़ा है और इसे एक प्रतिक्रियावादी दर्शन मानकर कबीर की आलोचना की है। शुक्ल जी के मत की समीक्षा करने से पहले आवश्यक है कि रहस्यवाद को समझा जाये।

आमतौर पर उस कथन या अनुभव को रहस्यवाद की संज्ञा दी जाती है, जिसमें अज्ञात ब्रह्म की अनुभूति शामिल है। महादेवी वर्मा ने ज्ञात अपूर्ण से अज्ञात पूर्ण के तादात्मय को रहस्यवाद की संज्ञा दी है। इस अर्थ में रहस्यवाद वस्तुतः आत्म चेतना से विश्व चेतना का एकीकरण है। मध्यकालीन यूरोप में सेन्ट थेरेसा जैसे रहस्यवादी सन्तों ने सामंती जकड़न और चर्च की अनीतियों के खिलाफ संघर्ष का बिगुल बजाया था, कबीर के जीवन और उनके सम्पूर्ण साहित्य को देखें, तो उनकी स्थिति मध्यकालीन यूरोपीय रहस्यवादी संतों जैसी ही है। निश्चय ही यह प्रतिक्रियावाद नहीं है। रहस्यवादी अनुभूति के कारण कबीर को प्रतिक्रियावादी कहना शुक्ल जी का अन्याय ही प्रतीत होता है।

इसमें कोई शक नहीं कि कबीर की भक्ति रहस्यवादी भक्ति है। कबीर के यहाँ रहस्यवाद ईश्वर के स्वरूप, उसकी अनुभूति और उसकी अभिव्यक्ति

को तीनों स्तरों पर देखा जा सकता है। उपनिषदों में ब्रह्मा को अपरोक्ष अनुभूति कहा गया है- यत साक्षात् अपरोक्षानुभूति ब्रह्म. अनुभूति अपने-आप में रहस्य है, क्योंकि अनुभूति गोपन होती है। ब्रह्म की अपरोक्ष अनुभूति तो रहस्य के सिवा कुछ हो भी नहीं सकती। इस ब्रह्म को शब्दों से समझाया नहीं जा सकता, क्योंकि शब्द विकल्प मात्र होते हैं, जबकि ब्रह्म निर्विकल्प है। सीमित व्याप्ति वाले शब्द असीम ब्रह्म की व्याख्या नहीं कर सकते। कबीर तर्कों, प्रतीकों और उपमानों के सहारे इस ब्रह्म को समझाने की कोशिश करते हैं, परन्तु थक-हार कर कह बैठते है-

बोलन का कहिए रे भाई बोलत-बोलत तत्त्व नसाई।

अन्डर हिल्स ने रहस्यवाद की पांच अवस्थायें बताई हैं-

1. परिवर्तन
2. आत्मज्ञान
3. उद्भाषण
4. आत्म-समर्पण
5. मिलन
6. कबीर के यहाँ रहस्यवाद की ये पांचों अवस्थायें इसी क्रम में देखी जा सकती है।

सांसारिक मोह-माया से ग्रस्त जीव का ब्रह्म की ओर उन्मुख होना ही परिवर्तन है। यह एक आध्यात्मिक जागरण है, जिससे सांसारिक कर्मों में लगा जीव अपने जीवन की निस्तरता को समझ कर ब्रह्म की ओर उन्मुख होता है। कबीर के यहाँ परिवर्तन की भूमिका गुरु निभाता है। गुरु की महिमा पर कबीर ने सर्वाधिक बल दिया है क्योंकि गुरु ही वह शक्ति है, जो सांसारिक जीव को सही राह पर डालती है-

कबीर लागा जाई था, लोक वेद के साथ आगे थे सद्गुरु मिल्या, दीपक दिया हाथ।

गुरु की महत्ता कबीर की नजर में इतनी अधिक है कि कई बार वे उसे गोविन्द के बरवस भी रख देते हैं-

गुरु गोविनद दोउ खड़े काके लागू पांव बलिहारी गुरु आपणों, जो गोविन्द दिये बताय।

कबीर के यहाँ गुरु साधन भी है और मंजिल भी। साधक गुरु की बताई राह पर चलकर ब्रह्म तक पहुंचता है। इस अवस्था में गुरु साधन की भूमिका

निभाता है, लेकिन जैसे ही ब्रह्म के साथ साक्षात्कार होता है, कबीर को गुरु और गोविन्द में कोई फर्क नजर नहीं आता–

'गुरु गोविन्द तो एक है, दूजा यह आकार'

यहाँ पहुंच कर साधन की भूमिका निभाने वाला गुरु मंजिल बन जाता है।

गुरु की बताई राह पर चलकर जीव को आत्मज्ञान होता है उसे इस संसार में अपनी वास्तविक स्थिति का पता चलता है। वह समझ जाता है कि उसका अस्तित्त्व ब्रह्म से विच्युत् एक स्फुलिंग से ज्यादा कुछ नहीं है। उसका अन्तिम लक्ष्य ब्रह्म के साथ तदाकार हो जाना है। इस अवस्था में जीव आचरण की शुद्धता, नैतिक पवित्रता आदि के द्वारा अपने हृदय को निर्मल बनाता है, क्योंकि निर्मल हृदय में ही ईश्वर का प्रतिबम्बन हो सकता है।

ईश्वरोन्मुख आत्मा का ब्रह्म के साथ साक्षात्कार उद्भाषण है। यहाँ जीव का ब्रह्म के साथ एकीकरण हो जाता है। ब्रह्म के सिवाय साधक को कुछ और दिखाई नहीं देता है। यह परम आनन्द की अनुभूति है–

पारब्रह्म के तेज का कैसा है उन्मान
कहिबे की सोभा नहीं देखा है परमाण

साधक अब दिन–रात इसी स्थिति में रहना चाहता हैं यह जागरण की अवस्था है। निद्रा विस्मृति है ब्रह्म से, ब्रह्म के स्मरण से। यहाँ जागरण की अवस्था में साधक दिन–रात ब्रह्म का समरण करता है। साधक और ब्रह्म के बीच से माया का पर्दा छंटने लगता है।

संतों आयी ज्ञान की आंधी,
भ्रम की टांटी सबै उड़ानी,
माया रहे न बांधी रे।

यह प्रेम की अनन्य अनुभूति की अवस्था है। साधक को ब्रह्म के सिवाय और कुछ नहीं दिखता। वह दिन–रात ब्रह्म के ख्यालों में खोया रहता है। अपने अहम् का विसर्जन कर साधक स्वयं को ब्रह्म के प्रति समर्पित कर देता है। कबीर की रहस्यवादी साधना प्रेम की साधना है। प्रेम पर जितना बल कबीर ने दिया है, उतना शायद ही किसी और ने दिया हो। कबीर का यह प्रेम निःशर्त प्रेम है। वहाँ पहुंचने के लिए अहम् का त्याग आवश्यक है–

कबीर यह घर प्रेम का
खाला का घर नाहिं

सीस उतारे भू धरे
तब पैठे घर माहि।

कबीर का प्रेम का ढ़ाई अक्षर राम राम ही है। अपने अराध्य के प्रति, अपने प्रिय के प्रति यह अगाध समर्पण कबीर की भक्ति को दास्य भक्ति से भी जोड़ती है–

कबीर कूता राम का, मुतिया मेरा नाऊं
गले राम की जेवड़ी, जित खीचे तित जाऊं।

अहम् के विगलन के कारण कबीर के अपने व्यक्तित्त्व का लोप हो गया है। अब उनके चारों ओर हरि ही हरि है–

जब मैं था तब हरि नहीं
अब हरि हैं मैं नाहिं।

कबीर के प्रेम की चरम पराकाष्ठा विरह में दिखाई देती है। विरह में कबीर की मार्मिक पुकार ब्रह्म को आने के लिए विवश कर देती हैं। शुक्ल जी ने रहस्यवाद को शुष्कता की भूमि कहा है, परन्तु कबीर के विरह वर्णन की मार्मिकता से शायद उन्हें भी इन्कार नहीं होगा–

अख्ड़या झाई पड़ी पंथ निहारि–निहारि।
जीभड़या छाला पड़ा नाम पुकारी–पुकारी।।

कबीर को ब्रह्म के विरह में कहीं भी चैन नहीं है। वह बार–बार लगातार अनथक उसे याद करते हैं। उसके बिना न नींद है न चैन–

अन्न न भावें, नींद न आवे, गृहबन धरे न धीर रे।

विरह की पराकाष्ठा के बाद कबीर का ब्रह्म से मिलन होता है। अब कबीर और उनके राम में कोई अंतर नहीं रह जाता है। यह ब्रह्म से एकीकरण की अवस्था है–

मेरी बिलगी बिलगायी हो
कोई कहे कबीर, कोई राम राई हो।

कबीर का रहस्यवाद उन्हें ब्रह्म से एकान्तिक रूप से जोड़ता है पर इस ब्रह्म का बर्ताव करना बच्चों का खेल नहीं है। रहस्यवाद यहां अनुभूति के स्तर पर ही नहीं, अभिव्यक्ति के स्तर पर भी है। कबीर कहते है–

एक कहे तो है नहीं
दुई कहें तो गारी।

इस तरह कबीर का रहस्यवाद ब्रह्म के प्रति उनके आत्यंतिक प्रेम की अनुभूति है न कि प्रतिक्रियावाद। सांसारिक जीवन में कबीर जैसे प्रखर व्यवस्था विरोधी को प्रतिक्रियावादी कहना न सिर्फ उनके प्रति, बल्कि सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य के प्रति अन्याय है।

कबीर मध्यकालीन भारतीय साहित्य और समाज की सर्वाधिक जाग्रत मनीषा हैं। वे घोषित रूप से न तो समाज –सुधारक थे और न कवि, फिर भी उनकी 'बानी' में सच्चाई का वह तेज था कि धर्म, समाज और साहित्य की परम्परागत मान्यताएं प्रश्नचिह्न के घेरे में आ गईं, उनकी व्यंजक, फक्कड़ और उदास कविता ने ऐसा चमत्कार किया कि सदियों से अधिकार वंचित, शोषित–उपेक्षित लोगों में ज्ञान, धर्म एवम् कविता की प्यास भड़क उठी और देखते ही देखते इन सभी क्षेत्रों में क्रांति आ गई। कबीर के साथ रैदास, नानक, दादू, हरिदास सेन आदि निचली जाति के संतों ने अपनी आध्यात्मिक आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति के लिए गीत रचे। इस आध्यत्मिक आकांक्षा में उनके लौकिक जीवन के ही दु:ख की परोक्ष घोषणा थी। कबीर आदि निर्गुण पंथी संतों का धर्म और साहित्य के 'वर्जित प्रदेश' में प्रवेश एक युगांतकारी घटना थी। इस घटना ने निचली श्रेणी के लोगों के युग–युग से संचित सपनों की उडान के लिए एक मुक्त आकाश दिया। यह आकाश 'अनुभव सत्य' का था, जो सत्ता और शास्त्र पर काबिज वर्गों के सामने कठिन चुनौती बनकर उपस्थित हुआ।

उत्तर भारत में निर्गुण पंथ को निचली श्रेणी की जनता का धार्मिक पंथ बनाने का श्रेय कबीर को है। ऐसा नहीं कि निर्गुण ब्रह्म की अवधारणा भारतीय धर्म– दर्शन में नहीं थी। एकेश्वरवादी और अद्वैतवादी निर्गुण ईश्वर के सम्बन्ध में कई तरह की दार्शनिक मीमांसा प्रस्तुत कर चुके थे। यह बहुत महीन– सी दार्शनिक बहस थी, जो सामान्य जन की पहुँच से बाहर थी। निर्गुण सम्बन्धी इस बहस में सामान्य जन की धार्मिक आकांक्षा और ईश्वर के लिए शायद ही कोई जगह थी। यही कारण है कि शंकराचार्य का अद्वैतवाद कबीर आदि निर्गुण पंथी संतों के समय तक सामान्य लोगों में लोकप्रिय नहीं हुआ था, यह पंडितों के बीच जारी अंतहीन बहस का विषय था। कबीर ने वेदांत दर्शन से निर्गुण ब्रह्म की अवधारणा ली या शंकर के अद्वैतवाद से, इसका कोई स्पष्ट प्रमाण इतिहास में नहीं मिलता। अब तो कुछ इतिहासकार इस तरह के मत का पूरी तरह खंडन करते हैं। जो भी हो, कबीर के समय तक निर्गुण ब्रह्म एक ठोस वास्तविकता से अधिक दार्शनिक मीमांसा भर था। कबीर की ऐतिहासिक भूमिका यह है कि

उन्होंने उस अमूर्त ईश्वर को मूर्त रूप दिया और उसे दार्शनिकों – आचार्यों के खाते से निकालकर ईश्वर विहीन निचली श्रेणी की जनता के हवाले किया। कबीर के निर्गुण का वेदांत और अद्वैत दर्शन के निर्गुण से मेल नाम मात्र का है। यह निर्गुण ब्रह्म मध्यकालीन धर्म और साहित्य में नितांत नया और मौलिक सृजन है। अगर ऐसा नहीं होता तो यह निर्गुण ब्रह्म निचली श्रेणी की जनता के जरिए भक्तिकालीन साहित्य और समाज में नई चेतना के आन्दोलन का संवाहक नहीं बनता। कोई तो बात थी कि वेदांत और अद्वैत दर्शन के निर्गुण ब्रह्म से सामान्य जन की आध्यात्मिक प्यास न बुझ सकी थी, न सामान्य जन उस निर्गुण ब्रह्म को अपनी जीवनी शक्ति बना सका था। वेदांत का निर्गुण ब्रह्म दार्शनिकों तक सीमित था, जबकि कबीर आदि संतों का निर्गुण आंदोलनधर्मी नई चेतना की ठोस आधारभूमि है। वेदांत के निर्गुण और कबीर के निर्गुण में अंतर को ध्यान में रखें बिना भक्तिकालीन साहित्य और समाज में कबीर के महत्त्व का ठीक-ठाक मूल्यांकन नहीं हो सकता।

इस निर्गुण ब्रह्म के जरिए कबीर ने यह बताया कि ब्राह्मण-शूद्र, हिन्दू-मुसलमान सबका ईश्वर एक है, इसके लिए जात-पात के झगड़े और धार्मिक फसाद व्यर्थ हैं। धार्मिक विभेद और वेद- कुरान की सत्ता को इस निर्गुण ब्रह्म ने ऐसी चुनौती दी, जिसकी कोई दूसरी मिसाल उस काल के समाज और साहित्य में नहीं हैं। इस निर्गुण ब्रह्म के जरिए सभी तरह के धार्मिक बाह्याचारों की व्यर्थता सिद्ध करते हुए कबीर ने सबके लिए एक सुगम धार्मिक राह निकाली। कबीर का यह क्रान्तदर्शी रूप था, जिसकी प्रंशसा उनके विरोधियों तक ने की। लेकिन उन्होंने जिस निर्गुण ब्रह्म को अपने धार्मिक- सामाजिक उद्देश्य का सबसे बड़ा संबल और पाथेय बनाया, उसकी लोक स्वीकृति आसान न थी, उसे लेकर तरह-तरह के विवाद खड़े किये गए और उसे सामान्य 'लोकधर्म' के विरुद्ध बताया गया। बहु-देवों की सगुण उपासना वाले इस देश में निर्गुण पंथ की आलोचना और निषेध के संगठित सांप्रदायिक प्रयास शुरू हुए। निर्गुण पंथ ईश्वर के सगुण साकार अस्तित्त्व को नकारता है। इसका कारण यह है कि ईश्वर के सगुन साकार अवतारी रूप और उसकी उपासना विधि के मूल में वर्णाश्रम धर्म की प्रतिष्ठा है सगुणवादियों ने इसीलिए निम्न जन्मा लोगों के निर्गुण पंथ की आलोचना की। निर्गुण पंथ के विरोध का एक अन्य कारण भी था। कबीर ने जिस निर्गुण ब्रह्म का निर्माण किया, उसे काया के भीतर ही खोजने की बात की। उन्होंने कहा की तेरा साईं तुम्हारे भीतर है। उसे काबा- काशी और

मंदिर-मस्जिद में ढूढ़ँना व्यर्थ है। ईश्वर का बगीचा तुम्हारे शरीर में ही है। उसका सौन्दर्य देखने के लिए बाहर जाना व्यर्थ है - ' बागों न जा रे न जा, तेरी काया में गुलजार'। लेकिन उस ईश्वर की छवि देखने के लिए काया के भीतर सहस्त्रार चक्र पर बैठकर समाधि लगानी होगी। उस ईश्वर के दर्शन के लिए काया के भीतर इंगला, पिंगला, सुषुम्ना, सहस्त्रदल कमल, अनहद नाद आदि अदृश्य उपासना साधनों की जरूरत है। इन साधनों के जरिए अपनी काया में ही उस ब्रह्म का साक्षात्कार किया जा सकता है और अनहद संगीत सुना जा सकता है। यह उपासना मार्ग बाह्याडम्बरों को अस्वीकार कर सिर्फ शुद्ध एवम् सच्चे तन-मन की जरूरत पर जोर देता है। यह हर लिहाज से भेदभाव रहित उपासना मार्ग है। इसके लिए मंदिर- मस्जिद, काशी-काबा, वेद-कुरान और पंडित- मुल्ला की जरूरत नहीं। भेद पैदा करने वाले और खर्चीले बाह्याचारों की तुलना में यह आम लोगों के लिए सुलभ उपासना मार्ग था। इस मार्ग की खोज करके कबीर ने निम्न जन्मा लोगों की 'जुगन- जुगन की त्रिसा' बुझाई। यह 'त्रिसा' धर्म और ईश्वर की थी। सगुण ईश्वर और मंदिर निम्न जन्मा लोगों के लिए तब प्रवेश वर्जित क्षेत्र थे। उनका धर्म तो मालिकों की सेवा करना भर था। उनकी मुक्ति धर्म से नहीं, मालिक की सेवा में थी, उनका स्थान मंदिरों में नहीं, उनकी सीढ़ियों पर था। कबीर ने ऐसे लोगों को निर्गुण पंथ के रूप में एक धर्म और ईश्वर देकर महान कार्य किया। भक्तिकाल में यह एक सामाजिक क्रांति थी।

लेकिन यह निर्गुण पंथ जिस उपासना विधि-समाधि आदि -की बातें करता था, उसमें गुह्य साधना और रहस्य के लिए काफी गुंजाईश थी। जिस शरीर में सभी देवों तथा तीर्थों के दर्शन करने का दावा निर्गुणियों ने किया, वह एक अद्‌भुत रहस्य- लोक हो गया। ब्रह्माण्ड का सारा खेल इस पिंड में देखने की घोषणा कबीर ने की-

चंदा- झलकै यहि घट माहीं। ऊँची आंखन सूझै नाहीं॥
यही घट चंदा यही घट सूर। यही घट गाजै अनहद तूर॥
यहि घट बाजै तबल-निसान। बहिरा सबद सुने नहीं कान॥
मृगा हास कस्तूरी बास । आपन खोजै खोजै घास ॥

किन्तु घट में ही पूरे ब्रह्माण्ड के दर्शन की प्रक्रिया ने एक किस्म की एकांत और अलक्षित -सी साधना को जन्म दिया, जो रहस्यवाद का मूलाधार है। यह रहस्यवाद कबीर में भी है और दूसरे निर्गुण पंथी संतों में भी। कबीर आदि का यह रहस्यवाद बहुत हद तक आज भी रहस्य ही है, उनके विरोधियों के लिए

भी और समर्थकों के लिए भी। कबीर जैसे क्रान्तदर्शी कवि का यह रहस्यवाद उनके आलोचकों का बहुत बड़ा हथियार है। कबीर के समर्थक भी उनके रहस्यवाद की कोई सार्थक संगति उनके क्रांतिचेता रूप से नहीं मिला पाते। आखिर यह घट के भीतर खेला जाने वाला रहस्यवादी धूप छांही खेल ही तो था, जो बाह्याचारों की धज्जियाँ उड़ाकर और ईश्वर विहीन लोगों को ईश्वर देकर 'जुगन-जुगन की त्रिसा' इसी संसार में बुझाने के कबीर के महान उपक्रम पर प्रश्नचिह्न लगाता हुआ यह घोषणा कर रहा था की यह संसार अपना नहीं, माया है, यथार्थ नहीं, भ्रम है, स्त्री इसी माया का सबसे विकारयुक्त रूप है, मनुष्य का असली धर्म इस मायालोक से मुक्त होने में है, इस संसार रूपी नैहर को छोड़कर बाबुल के घर जाने में है, आदि। कबीर की यह घोषणा उन्हें रहस्यमयी साधना का अनुगामी बनती प्रतीत होती है। आरोप है कि यह साधना संसार की वास्तविकता को नकार कर एक काल्पनिक और अवास्तविक दुनिया में जाने को उद्धत करती है। इस दुनिया को माया मानकर अदृश्य को सत्य मानना रहस्यवाद है। लोक की चिंता में हलकान हुए जा रहे संत कवि का यह लोक विमुख धर्म कुछ चकित करने वाला है। प्रश्न है कि यह रहस्यवाद लोक विमुखता का ही पर्याय है या इसकी कोई सामाजिक सार्थकता भी है?

निर्गुण ब्रह्म की जन्म कथा में ही रहस्यवाद का बीज मौजूद है। जो रूप -रेखा विहीन, निराकार और अव्यक्त चेतना पुंज है, उसके बारे में तरह-तरह की जिज्ञासा और कल्पना करना सहज स्वाभाविक है। जिज्ञासु मन उसके बारे में, उसकी दयालुता-महानता के बारे में तरह-तरह के अनुमान लगाएगा। यह एक अंतहीन जिज्ञासा है और यह जिज्ञासा रहस्य का घर है। दृश्य लोक से भिन्न अदृश्य जगत की किसी अलौकिक सत्ता की भाव और चेतना के स्तर पर प्रतीति और फिर उस अनुभव की शब्दों में अभिव्यक्ति एक टेढ़ी एवम् जटिल प्रक्रिया है। चूँकि बहुत कुछ अप्रकट और अनुभव के स्तर पर है, इसलिए उसकी अभिव्यक्ति में धुंधलेपन, अस्पष्टता, दुर्बोधता, प्रतीकता आदि का होना लाजिमी है। निर्गुण भक्ति में रहस्यवाद के प्रवेश और उपस्थिति की वजह यही है। जिन धर्मों में ईश्वर के निर्गुण रूप की अवधारणा ग्रहण की गई, उन धर्मों में प्राय: रहस्यवाद भी है। सगुण भक्ति में रहस्यवाद का अभाव है। उसमें अदृश्य सत्ता की कोई गुंजाइश नहीं है, जो कुछ है खुला खेल फर्रुखाबादी है। राम, कृष्ण आदि भगवान जन्म लेते हैं, धर्म की रक्षा के लिए तरह-तरह की लीलाएं करते हैं, और सारी लीलाएं चूँकि दृश्यमान होती हैं, इसलिए वहां न किसी रहस्य की

गुंजाइश है, न रहस्यवाद की। इस दृश्य जगत में धर्म हेतु जन्म लेने वाले ईश्वर की सेवा करना, कीर्तन करना, उसका अनुग्रह प्राप्त करना आदि ही उसकी भक्ति के विधान हैं। इसके लिए शुद्ध आचरण और शुद्ध मन का होना जरूरी है। यह सरल-सहज उपासना पद्धति है। यह अलग बात है कि इस उपासना पद्धति में भी भव्यता और ताम-झाम का महत्त्व बढ़ गया, किन्तु है यह सरल-सहज ही। सगुण भक्ति में तो नाम जाप ही काफी है। लेकिन यह सगुण भक्ति जात-पांत की विभेदकारी भूमि पर आधारित है, इसके मूल में वर्णाश्रम धर्म की प्रतिष्ठा है, इसलिए निम्न जन्मा लोगों के लिए यहाँ सम्मान जनक स्थान नहीं है। यही कारण है की भक्ति आन्दोलन के प्रथम खेवे के निम्न जन्मा संत कवियों ने उस निर्गुण ईश्वर की भक्ति स्वीकार की, जो जाति, वर्ण और धर्म से परे हैं। निर्गुण पंथ कबीर और उनके समानधर्मा संत कवियों द्वारा विवशता में अपनाएं गए धर्म का प्रतिफल है। इस विवशता के पीछे लाखों -करोड़ों निम्न जन्मा लोगों की धार्मिक प्यास छुपी थी, जो सगुण भक्ति से नहीं बुझने वाली थी।

निर्गुण पंथ में अधिकतर वे जातियां शामिल हुईं, जो निम्न जन्मा थीं, साथ ही जो दस्तकारी, शिल्प, व्यापार आदि धंधों से जुड़ी थीं। नई सामाजिक-राजनीतिक स्थिति ने उनकी आर्थिक स्थिति कुछ बेहतर बना दी थी। थोड़ी आर्थिक निश्चिंतता आते ही उनके भीतर युगों की सोई सांस्कृतिक-धार्मिक चेतना जग गई। इस चेतना ने निर्गुण पंथ के रूप में अपना वैकल्पिक धार्मिक संसार रचा। निर्गुण पंथ मध्यकाल में उन नई सामाजिक शक्तियों की धार्मिक इच्छाओं-आकांक्षाओं की साकार अभिव्यक्ति है, जिनके लिए हिन्दू-धर्म और इस्लाम तथा वेद और कुरान दोनों ही अपर्याप्त थे। इन सामाजिक शक्तियों ने जिस ईश्वर की रचना की, उसका नाम निर्गुण था। जब ईश्वर आया तो उसकी प्राण प्रतिष्ठा के लिए मंदिर भी चाहिए। मंदिर बनाने की उन्हें छूट नहीं थी। यह नया वर्ग इतना शक्तिशाली नहीं था और शासक- पुजारी वर्ग इतना उदार नहीं था कि मंदिर बनता। मंदिर की व्यर्थता भी इनके सामने थी। मंदिर भेद-भाव के अड्डे थे। इसलिए इन्होने ऐसे मंदिर की रचना की जहाँ भेदभाव की गुंजाइश नहीं थी। इन्होंने अपने तन को ही मंदिर माना और हर किसी को अपने तन रूपी मंदिर में ही साधना करने की सलाह दी। तन मंदिर है, मंदिर को साफ और पवित्र होना चाहिए। इसके लिए जीवन में शुद्ध आचरण की आवश्कता बताई गई। मंदिर में पूजा - आराधना का विधि- विधान है, उसी तरह इस तन रूपी मंदिर में भी साधना का और ब्रह्म- साक्षात्कार की विधि- विधान विकसित हुआ। यह

विधि- विधान ध्यान, योग- कुंडलिनी, समाधि आदि के जरिए निर्मित हुआ। यह विधि- विधान ध्यान, योग- कुंडलिनी, समाधि आदि के जरिए निर्मित हुआ। इन्हीं के जरिए इस मंदिर में प्रवेश संभव था, इन्हीं के जरिए ब्रह्म-साक्षात्कार भी संभव था। यह वैकल्पिक धर्म था, वैकल्पिक धर्म और वैकल्पिक उपासना-मार्ग था। इस वैकल्पिक संसार की रचना से उपेक्षित-उत्पीड़ित जनता की भौतिक और धार्मिक प्यास बुझती थी, जीने की नई राहें बनती थीं। इसे इस रूप में देखने पर उसकी प्रगतिशील भूमिका दिखाई देगी, वर्ना यही लगेगा कि एक विधि- विधान की जगह उससे अधिक निकृष्ट विधि- विधान निर्गुण पंथ ने विकसित किया।

कबीर आदि निर्गुण पंथियों में जो रहस्य भावना है, उसका कारण तन को देवालय बनाकर उसी में अपने ईश्वर के साक्षत्कार का प्रयत्न है। इस रहस्य भावना के अपने प्रतीकार्थ हैं। किसी बाहरी कर्मकांड और दिखावे की जरूरत नहीं है। इन्द्रियों समेत इस पूरे तन का ही शोध करना है, क्योंकि तन के भीतर ही सब कुछ है। यह काया मंदिर और मनसा (मन) थंभ है। यह मंदिर विकट किले-सा है, जिसे जीतना कठिन है, क्योंकि - 'क्यूँ लीजै गढ़ बंका भाई, दोवर कोट अरु तेवर खाई।' इस तन रुपी बक्र गढ़ को कैसे जीता जाए? इसका परकोटा दुहरा और खाई तिहरी है। इसमें काम के कपाट लगे हैं, सुख-दुःख इसमें द्वारपाल हैं, पाप-पुण्य द्वार हैं, क्रोध जहाँ प्रधान पद पर हैं, लोभ विकत योद्धा है। मन यहाँ का राजा है, आदि -आदि। कबीर के पास इस गढ़ को जीतने के लिए प्रेम का पलीता, सुरति की तोप और ज्ञान का गोला है। ब्रह्माग्नि, सत्य, संतोष, साधु -संगति और गुरु -कृपा आदि हथियारों के साथ कबीर ने चढ़ाई की। गढ़ को जीता और राजा को वश में कर लिया। जाहिर है कि ऐसे बीहड़ गढ़ से मंदिर में प्रवेश के लिए अपने कठोर नियम हैं। इन नियमों का पालन करके ही उस मंदिर में अभ्यर्थना की जा सकती है।

लेकिन संसार ही जब माया है, तब किसी वैकल्पिक संसार का क्या मतलब? एक माया शंकराचार्य की थी, एक कबीर की। शंकराचार्य की माया ने दर्शन के क्षेत्र में पांडित्य की कैसी चुनौती उपस्थित की, इस इतिहास से सभी परिचित हैं। वह एक अतिसूक्ष्म बौद्धिक बहस है, जिसका कोई सम्बन्ध सामान्य जन से नहीं। इसलिए शंकर की माया को नामवर सिंह 'पंडितों की संपत्ति' कहते हैं। कबीर माया से टकराते हैं, उसे जीतते हैं और कभी- कभी उसी के वशीभूत होने को विवश हो जाते हैं। वह इसी लोक की माया है। यह माया एक ठोस

वास्तविकता है, जिससे हमारा आपका हर रोज सामना होता है। जो संसार की माया यानि यहाँ बिखरे हुए विभिन्न आकर्षणों से दो-चार नहीं होगा, वह इसकी न्यारी गति को न तो समझ सकता है और न नया समाज रचने की सोच सकता है। यह माया कबीर को दु:ख भी देती है। लेकिन यह दु:ख दुनियावी भेद-भाव से उपजता है। जैसे कबीर की माया ठोस वास्तविकता है वैसे ही उनके राम और निर्गुण भी। इस निर्गुण और राम की शक्ति के सहारे वे संसार की माया से टकराते हैं। जिस मन्त्र से माया रूपी संसार की ठोस सच्चाई का सामना किया जाये, वह निर्गुण और राम ठोस सच्चाई के सिवा और कुछ नहीं। ठोस की काट ठोस। ठोस का सामना हवाई बातों से नहीं किया जा सकता। न तो कबीर के राम दर्शनशास्त्र की अमूर्त अवधारणा हैं, न उनकी माया, न उनका निर्गुण और न रहस्यवाद। नामवर सिंह के अनुसार "माया की तरह ही कबीर के निर्गुण राम काफी भौतिक हैं - 'भौतिक' और वास्तविक। सगुण से किसी भी मायने में कम मूर्त नहीं। जिस निर्गुण से मंदिर और मस्जिद की नींव हिल गई, ब्राह्मण और शेख विचलित हो गए, वेद- कुरान की विश्वसनीयता संदेह के घेरे में आ गई, वह एकदम हवाई चीज नहीं हो सकती। निर्गुण ऐसा 'ज्ञान' है जिसे कबीर कभी तीर कहते हैं और कभी तलवार। स्वयं कबीर के हृदय में यह ज्ञान तीर की तरह चुभा था, लेकिन कबीर के विरोधियों की नजर में वह चमचमाती हुई तलवार थी। जो ज्ञान न हिन्दू, न मुस्लमान हों और जो ब्राह्मण-शूद्र के भेद को नकारता हो, उसका नाम निर्गुण के अलावा और हो ही क्या सकता है। सभी स्थापित मान्यताओं का निषेध ही निर्गुण है।.....निर्गुण को स्वीकार करके ही कबीर ने बाकी सबको अस्वीकार करने का साहस हासिल किया। कहना न होगा कि 'निर्भय निर्गुन' गाने वाले कबीर के अन्दर कोई गहरा स्वीकार है। यह निर्गुण कोई रहस्य नहीं, बल्कि क्रांतदर्शी कवि की उदात्त कल्पना है, सभी वांछित मूल्यों और सपनों का संभाव्य मानचित्र।"

इसलिए कबीर के रहस्यवाद, अनहद, ध्यान- योग के मूल में निहित, जो मूल आशय है उसे समझने की जरूरत है। इसके पीछे इसी लोक में भौतिक एवम् आध्यात्मिक अधिकारों से वंचित सामाजिक रूप से अपमानित-प्रताड़ित जनों के लिए वैकल्पिक संसार रचने का स्वप्न है। यह स्वप्न हकीकत बनता है या नहीं, यह उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है, जितना महत्त्वपूर्ण है सामंती काल में उस स्वप्न का जन्म लेना। उस स्वप्न की अंतर्वस्तु कैसी होगी, जिसकी चर्चा मात्र वेद, कुरान के हिमायती पंडितों-काजियों के कान खड़े कर दिए. न किसी

राजा का आश्रय, न बौध धर्म की तरह संगठित कोई संघ संप्रदाय, फिर भी कबीर के निर्गुण ने अपने विरोधियों के भीतर सगुण भय पैदा कर दिया। सूर-तुलसी समेत प्राय: सभी सगुणवादी संतों के कान खड़े हो गए। यदि निर्गुण रहस्य है, अबूझ है तो आज भी अनपढ़ दलितों के बीच लोकप्रिय क्यों है? प्रेमचंद के धीसू - माधव तथा अत्यंत निचली श्रेणी के पात्र कबीर का निर्गुण क्यों गाते हैं? आधुनिक काल में निराला का 'चतुरी चमार' और उसके साथी भी निर्गुण गाते हैं। न सिर्फ गाते हैं, बल्कि उसका मतलब भी बताते हैं। अनपढ़ चतुरी का और कबीर पदावली का विशेषज्ञ है। जिस निर्गुण को समझने में पंडितों के छक्के छूटते हैं, उसका मतलब चतुरी और उसके साथी जानते हैं। निराला को आश्चर्य होता है- 'वे लोग ऊँचे दर्जे के उन गीतों का मतलब समझते थे, उनकी नीचता पर एक आश्चर्य मेरे साथ रहा। बहुत से गाने आलंकारिक थे। वे उनका मतलब भी समझते थे।' विद्वानों को भले ही निर्गुण का अर्थ समझने में कठिनाई हो, उसमें परत-दर -परत रहस्य दिखाई देता हो, प्रेमचंद- निराला के धीसू-माधव और चतुरी जैसे लाखों दलितों की आध्यात्मिक प्यास कबीर आदि संतों के निर्गुण से बुझती रही है और इससे उन्हें जीने की ऊर्जा मिलती रही है। आधुनिक साहित्य में ब्राह्मणवाद के प्रखर आलोचक प्रेमचंद- निराला के दलित पात्रों का निर्गुण गाना यों ही नहीं है। इसके गहरे निहितार्थ हैं। यह कबीर की लोक चिंता की लोक में व्यापक स्वीकृति का सूचक है। कबीर आदि निर्गुण पंथी संत अपने नाम पर चलाये गए मठों -सम्प्रदायों में आज दफन कर दिए गए हैं, किन्तु वे जीवनी-शक्ति बनकर लोक में ही जीवित हैं।

कबीर की रहस्य-भावना की ही तरह उनकी उल्टबांसियों की भी आलोचना हुई है और यह कहकर उनका मजाक उड़ाया गया है कि ऐसा कहकर वे अनपढ़ जनता पर भाषित करना चाहते थे कि वे ज्ञानी एवम् पहुंचे हुए संत हैं। यह उल्टबांसी भी रहस्य-भावना का ही एक रूप मानी गई। ऐसा क्यों है कि 'डायरेक्ट्नेस' का हिमायती कबीर उल्टबासियों की शरण में जाता है? कुछ प्रचलित और सपाट उल्टबासियों में ही नहीं गहन आध्यात्मिक पदों-साखियों में जहाँ कबीर का क्षोभ नहीं, शांत मन बोलता है, वहां भी रहस्य भाव और प्रतीक भरे पड़े हैं।

उल्टबांसी का कारण नामवर सिंह के अनुसार कबीर का दु:ख है। कबीर का दु:ख क्या है? एक दु:ख तो समाज का भेदभाव है, जिसके लिए निर्गुण गाते हैं। दूसरा दु:ख 'सभी वांछित मूल्यों और सपनों का संभाव्य मानचित्र' है, जब

मानचित्र है तो दु:ख कैसा? " दु:ख सिर्फ इस बात का है कि दिमाग में नक्शा तो है, लेकिन उसके मुताबिक एक नया संसार बनाने के साधन नहीं हैं। यह असहायता और विवशता ही दु:ख है। वह नक्शा आँखों में तो है, लेकिन आँखों के सामने नहीं है, मन में है, संसार में नहीं. कबीर की ही तरह यह दु:ख भी निराला है– विरोधाभासों से भरा हुआ, विडम्बनाओं से युक्त। अनुभव के ये उत्कट क्षण इसलिए प्राय: उल्टबांसियों में व्यक्त होते हैं।" बात सही है, जिस नए संसार का चित्र कबीर के पास है, उसे निर्मित न कर पाने की विवशता ने प्रतीकों, उल्टबांसियों और विरोधाभासों को जन्म दिया है। यही बात मुक्तिबोध पर भी लागू होती है, जिनके 'भविष्य का नक्शा' की याद नामवर सिंह को कबीर के नए संसार के प्रसंग में आती है। लेकिन मुक्तिबोध के पास वर्तमान के तीव्र बोध के साथ 'भविष्य का नक्शा' जितना सुस्पष्ट है, कबीर के पास नहीं. कबीर के पास जितना अपने समय और समाज का गहरा और तीखा बोध है, उसे तहस- नहस कर नया समाज बनाने का दृढ संकल्प है, उतना उस नए समाज का स्पष्ट चित्र नहीं है। कबीर धर्म का विकल्प धर्म में, 'वेद कितेब' का विकल्प 'गुरुबानी'में सगुन का विकल्प निर्गुण में, बाहरी मंदिर का विकल्प काया के भीतरी मंदिर में, बाह्याचार का विकल्प तन रूपी मंदिर में 'सहज समाधि' लगाने में ढूढ़ते हैं। ऐसे में रहस्य- भावना ही नहीं, उल्टबासियों और विरोधाभासों का पैदा होना स्वाभाविक है। मुक्तिबोध के पास जिस तरह से पूंजीवाद का विकल्प समाजवाद है, उतना स्पष्ट नक्शा कबीर का नहीं है। बावजूद इसके मुक्तिबोध के यहाँ भी 'साक्षात्- रहस्य' के रूप में 'रक्तालोक स्नात पुरुष' मौजूद है। आखिर क्यों? इसलिए कि जटिल यथार्थ को ठीक-ठीक व्यक्त करने में जब पुराने शब्द, बिम्ब, प्रतीकादि असमर्थ पड़ जाते हैं, तब नए बिम्बों - प्रतीकों की जरूरत पड़ती है। यथार्थ का जो जटिल रूप ठीक-ठीक समझ या पकड़ में नहीं आता, वहां 'गहन एक संदेह' पैदा होता है। जहाँ आँख और समझ असमर्थ हों. गहन संदेह हो, वहां रहस्य-भावना का पैदा होना स्वाभाविक है। प्रतीकों का बदल जाना भी स्वाभाविक है। जब कथन जटिल होगा तो कविता भी जटिल होगी। ऐसे में कविता ठीक -ठीक पकड़ में आने में वक्त लेती है। अगर ऐसा न होता तो उपेक्षित मुक्तिबोध का उनके जीवन काल में ही महत्त्व पहचानने वाले और आंकने वाले नामवर सिंह को अपनी प्रिय कविता को समझने में भी तीन दशक का वक्त नहीं लगता। कभी 'अँधेरे में' को 'व्यक्ति अस्मिता की खोज' कहने वाले नामवर जी को वह कविता अब

फासिज्म के खतरे के उदय से पैदा हुई लगती है। बहरहाल, अगर 'साक्षात् रहस्य' और 'गहन संदेह' के बावजूद मुक्तिबोध प्रगतिशील हैं और यथार्थवादी हैं तो कबीर भी हैं। जहाँ तक अंतर्विरोधों का सवाल है तो जटिल परिस्थिति के आकलन में इनका होना स्वाभाविक है। मुक्तिबोध के ही समानधर्मा कवि नागार्जुन में अंतर्विरोध तो है, लेकिन गहन-तो-गहन मामूली किस्म के भी संदेह का अभाव है। मुक्तिबोध में इसकी उपस्थिति और नागार्जुन में इसका अभाव, रामविलास शर्मा को भले नागार्जुन में प्रगतिशीलता और मुक्तिबोध में अस्तित्त्ववाद लगता हो, दूसरों के लिए यह उल्टबांसी ही है। अंतर्विरोध का होना हमेशा अशुभ ही नहीं होता। वह प्रगति का भी सूचक होता है। जहाँ तक उल्टबांसियों की दुरुहता का सवाल है, वह पंडितों और विरोधियों के लिए भले दुरुह हो कबीर प्रेमी जनता के लिए नहीं। इसके प्रमाण हैं प्रेमचंद के धीसू- माधव और निराला के चतुरी-चमार जैसे करोंड़ों दलित, जो कबीर को गाते बजाते हैं और जीवनी शक्ति पाते हैं। इसका प्रमाण है यह लोक प्रचलित उक्ति -'कबीरदास की उल्टी बानी, बरिसे कंबल भीजै पानी।' यह उक्ति वह चाभी है, जो कबीर की जनता के पास है और जिससे वह उनकी उल्टबांसियों के कठिन कपाट को खोलकर भीतर तक धंसती रही है।

कबीर के यहाँ माया का एक रूप नारी भी है, जिसके बारे में उनके विचार अत्यंत कड़वे हैं। कबीर के रहस्य का एक रूप यह भी है। कबीर साहित्य में कहीं माया और नारी एक हैं। कहीं दोनों ही आग हैं। जिससे मनुष्य जलकर बर्बाद हो जाता है। कहीं नारी विष है, तो कहीं नरक का कुंड। नारी के स्नेह संपर्क से बुद्धि और विवेक नष्ट हो जाते हैं, किसी कार्य की सिद्धि नहीं होती। नारी आत्म-ज्ञान और मोक्ष की सबसे बड़ी बाधा है। नारी अपनी हो या पराई, उसके संपर्क से नरक में जाना पड़ता है, आदि-आदि। यहाँ लगता ही नहीं कि ये उसी कबीर के विचार हैं, जो सभी स्थापित मान्यताओं की चूलें हिलाकर रख देता है। नारी सम्बन्धी कबीर के ये विचार उसी सोच के तहत आए हैं जिसमें उसके लिए कोई सम्मान जनक स्थान नहीं है। भारतीय धर्म-साधना में पुरुष के लिए स्त्री त्याज्य मानी गई है। ब्रह्मचर्य की महिमा बहुत पहले से गाई जाती रही है। महावीर, बुद्ध, शंकराचार्य आदि महापुरुषों ने स्त्री का त्याग करके या ब्रह्मचर्य का पालन करके ही ऊँचा पद प्राप्त किया। यह सिलसिला भक्तिकाल में भी जारी रहा। आधुनिक काल में विवेकानंद, महात्मा गाँधी आदि ने भी ब्रह्मचर्य की महिमा का गान किया है। कबीर आदि निर्गुण पंथी संत भी इसी धारणा के

शिकार हैं। दलितों के लिए समय-समय पर आवाजें उठती रहीं, भक्तिकाल में जात- पांत के बंधन ढीले कर दिए गए, लेकिन स्त्री सम्बन्धी सोच में कोई बदलाव नहीं आया। कबीर जैसा तेजस्वी संत कवि नारी के बारे में ऐसा विचार क्यों रखता है? इसका कोई माकूल उत्तर कबीर के प्रशंसक हजारी प्रसाद द्विवेदी, मुक्तिबोध, इरफान हबीब, नामवर सिंह आदि के लेखन में नहीं है। भक्तिकाल में नारी की सामाजिक स्थिति सोचनीय थी। सभी भक्त कवियों ने स्त्री- विरह के अनूठे प्रसंग रचे हैं। समूचा भक्तिकाव्य अनूठे नारी- विरह से भरा पड़ा है। खुद कबीर के काव्य में नारी- विरह का बड़ा ही मार्मिक चित्रण है। यह नारी-विरह उनका रहस्य भाव भी है और प्रचंड संवेदना शक्ति भी। यह कार्य संवेदना के स्तर पर हुआ। सोच के स्तर पर स्त्री माया ही है। उस काल में सामन्ती सोच के तहत सामाजिक स्तर पर स्त्री भोग्या और लूट का माल है तो धार्मिक स्तर पर माया। कबीर कभी इस माया से बचने की गुहार लगातें हैं और कभी बताते हैं कि माया उनके हाथ बिक चुकी है। नारी सम्बन्धी कबीर के ये विचार उनकी सीमा तो हैं ही, यह सम्पूर्ण भक्ति आन्दोलन की भी सीमा है। अपनी आधी आबादी के प्रति भक्त कवियों का रवैया भक्ति आन्दोलन के लिए आत्मघाती सिद्ध होता है।

हिंदी आलोचना में यदि कबीर के रहस्यवाद को 'अभारतीय' और लोकधर्म विरोधी कहने वाले हैं, तो ऐसे लोग भी हैं जिन्होंने उनके रहस्यवाद समेत उनकी उल्टबांसियों तक का सम्बन्ध- सूत्र उपनिषदों से जोड़ दिया है। पहला प्रयास कबीर के काव्य को लोक चिंता के दायरे से बाहर धकेलकर खारिज करने का है तो दूसरा उन्हें शास्त्र सम्मत बनाने का। कबीर के प्रति विरोध और प्रेम का यह ढंग अनोखा है : ये दोनों ही ढंग उनके वास्तविक महत्त्व पर पर्दा डालते हैं। रहस्यवाद के शास्त्रीय और अकादमिक विवेचन के रूप में कबीर की संगति बिठाने से ज्यादा जरूरी है, उसके सामाजिक आशय की खोज और उसी खोज की प्रक्रिया को समझना।

कबीर और जायसी का रहस्यवाद–तुलनात्मक विवेचन

रहस्यवाद का अर्थ

काव्य की उस मार्मिक भावाभिव्यक्ति को रहस्यवाद कहते हैं, जिसमें एक भावुक कवि अव्यक्त, अगोचर एवं अज्ञात सत्ता के प्रति अपने प्रेमोद्गार प्रकट

करता है। काव्य की इस भावाभिव्यक्ति के बारे में विद्वानों के विविध विचार मिलते हैं। जैसे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि –जहाँ कवि उस अनन्त और अज्ञात प्रियतम को आलम्बन बनाकर अत्यन्त चित्रमयी भाषा में प्रेम की अनेक प्रकार से व्यंजना करता है, उसे रहस्यवाद कहते हैं। डॉ. श्याम सुन्दर दास ने लिखा है कि –चिन्तन के क्षेत्र का ब्रह्मवाद कविता के क्षेत्र में जाकर कल्पना और भावुकता का आधार पाकर रहस्यवाद का रूप पकड़ता है। महाकवि जयशंकर प्रसाद के अनुसार– रहस्यवाद में अपरोक्ष अनुभूति, समरसता तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के द्वारा अहं का इदं से समन्वय करने का सुन्दर प्रयत्न है।

सुप्रसिद्ध रहस्यवादी कवयित्री महादेव वर्मा ने – अपनी सीमा को असीम तत्त्व में खो देने को रहस्यवाद कहा है। डॉ. रामकुमार वर्मा का विचार है कि –रहस्यवाद जीवात्मा की उस अन्तर्निहित प्रवृत्ति का प्रकाशन है, जिसमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शान्त और निश्छल सम्बन्ध जोड़ना चाहती है और यह सम्बन्ध यहाँ तक बढ़ जाता है कि दोनों में कुछ भी अन्तर नहीं रह जाता। अतः यह कहा जा सकता है कि रहस्यवाद के अंतर्गत एक कवि उस अज्ञात एवं असीम सत्ता से अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करता हुआ उसके प्रति अपने ऐसे प्रेमोद्गार व्यक्त करता है, जिसमें सुख–दुःख, आनन्द–विषाद्, संयोग–वियोग, रुदन–हास आदि घुले–मिले रहते हैं और वह अपनी अन्त होने वाली सत्ता को अनन्त सत्ता में विलीन करके एक व्यापक एवं अखण्ड आनन्द का अनुभव किया करता है। कबीर और जायसी के रहस्यवाद के सम्बन्ध में विद्वानों की राय कबीर और जायसी के रहस्यवाद के सम्बन्ध में हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वानों के मत एक–दूसरे से भिन्न हैं।

कोई कबीर को ही रहस्यवादियों में सर्वश्रेष्ठ मानता है, तो कोई जायसी के रहस्यवाद में ही रमणीयता और सौन्दर्य के दर्शन करता है। कोई कबीर के रहस्यवाद को प्रायः नीरस और शुष्क मानता है। निम्नलिखित उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जायेगा –डॉ. श्याम सुन्दर दास के अनुसार–रहस्यवादी कवियों में कबीर का ही आसन सबसे ऊँचा है। शुद्ध रहस्यवाद केवल उन्हीं का है। प्रेमाख्यानक कवियों का रहस्यवाद तो उनके प्रबन्ध के बीच–बीच में बहुत जगह थिगली–सा लगता है और प्रबन्ध से अलग उनका अभिप्राय ही नष्ट हो जाता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार – "कबीर में, जो रहस्यवाद है वह सर्वत्र एक भावुक या कवि का रहस्यवाद नहीं है। हिन्दी के कवियों में यदि कहीं स्मरणीय और सुन्दर रहस्यवाद है तो जायसी में, जिनकी भावुकता बहुत ही उच्चकोटि की है।

वे सूफियों की भक्ति भावना के अनुसार कहीं तो परमात्मा को प्रियतम के रूप में देखकर जगत के नाना रूपों में उस प्रियतम के रूप-माधुर्य की छाया देखते हैं और कहीं सारे प्राकृतिक रूपों और व्यापारों को पुरुष के समागम हेतु प्रकृति केशृंगार, उत्कंठा या विरह-विकलता के रूप में अनुभव करते हैं।"

डॉ. चन्द्रबली पाण्डेय के अनुसार -कबीर का रहस्यवाद प्राय: शुष्क और नीरस है, पर जायसी आदि का ऐसा नहीं। कबीर और जायसी- दोनों ही हिन्दी साहित्य के सुन्दर रहस्यवादी कलाकार हैं। दोनों ने अपनी-अपनी भावना रूपी बधुओं की झाँकी अपने-अपने ढंग पर सँवारी है। वे दोनों बधुएँ रहस्यात्मकता की दृष्टि से समान होते हुए भी आत्मा की दृष्टि से एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। कबीर की रहस्यात्मकता भारतीय हठयोग और औपनिषदिक विचारधारा के सुहाग से सम्भूत होने के कारण पूर्ण भारतीय हैं। यह बात दूसरी है कि उस पर चलते-चलते थोड़ा बहुत प्रभाव सूफी साधना का भी पड़ गया हो। किन्तु उसका सम्पूर्ण सौन्दर्य और निष्ठाएँ ठीक उसी प्रकार की हैं, जैसी आदर्श भारतीय बधुओं में पायी जाती है। अभारतीय सूफी-साधना और भारतीय अद्वैतवाद के संयोग से उत्पन्न उनकी (जायसी की) रहस्य-भावना कुछ बातों में भारतीय और कुछ बातों में अभारतीय है। जायसी और कबीर के रहस्यवाद को पूर्ण रूप से देखने के लिए उनकी प्रकृति को समझना आवश्यक है। सभी रहस्यवादी कवियों के काव्यों में प्राय: ये सात अवस्थाएँ पायी जाती हैं–1. जिज्ञासा, 2. महत्त्वदर्शन, 3. प्रयत्न, 4. विन एवं वेदना, 5. आभास, 6. अपरोक्ष अनुभूति और 7. चिरमिलन।

डॉ0 रामकुमार वर्मा ने रहस्यवाद की तीन अवस्थाओं का उल्लेख किया है - प्रथम - स्थिति में आत्मा-परमात्मा से सम्बन्ध जोड़ने के लिए अग्रसर होती है, द्वितीय- स्थिति में आत्मा-परमात्मा से प्रेम करने लगती है और तृतीय - स्थिति में आत्मा और परमात्मा का पूर्ण मिलन अथवा एकीकरण हो जाता है। अब तक कबीर और जायसी के रहस्यवाद की तुलनात्मक विवेचना करने वाले विद्वानों ने केवल नीरसता और माधुर्य की तुलना की है। कुछ विद्वान इस तथाकथित अन्तर का जायसी में प्रकृति के प्रति रुझान और कबीर में प्रकृति की उपेक्षा को माना है। विद्वानों ने जायसी के रहस्यवाद के पाँच प्रकार माने हैं -1. आध्यात्मिक रहस्यवाद 2. प्रकृति मूलक रहस्यवाद 3. प्रेम मूलक रहस्यवाद 4. भौतिक रहस्यवाद तथा 5. अभिव्यक्ति मूलक रहस्यवादाइन रहस्यवादों में से प्रकृति मूलक रहस्यवाद को छोड़कर शेष सबका वर्णन कबीर के रहस्यवाद में

मिलता है। कबीर ने प्रकृति मूलक रहस्यवाद को नहीं अपनाया है। इसका कारण यह है कि कबीर में जहाँ प्रकृति अपने मिथ्यात्व के कारण तिरस्कृत है, वहाँ जायसी में वही परमात्मा के झलक का साधन बन गई है। कबीर में आत्मा और परमात्मा के सौन्दर्य का प्रकाश होने के कारण प्रकृति स्वयं परमात्मा के रूप में प्रतिष्ठित हो गई है। जायसी के रहस्यवाद की सबसे बड़ी विशेषता उनकी प्रेम की पीर है। इसी प्रेम-तत्त्व के कारण उनका रहस्यवाद मधुर से मधुरतम बन गया है और इसी कारण उसमें विलास की झाँकिया मिलती हैं।

जायसी का रहस्यवाद सर्वत्र समष्टि मूलक के रूप में प्रस्तुत हुआ है। सूफी मत और इस्लाम के प्रति पूर्ण आस्था रखने के कारण कहीं-कहीं उनका रहस्यवाद सूफी सिद्धान्तों से पूर्ण रूप से प्रभावित मिलता है। इसके अतिरिक्त समष्टि मूलक दृष्टिकोण होने के कारण उनके रहस्यवाद की अभिव्यक्ति प्राय: अन्योक्ति और समासोक्ति द्वारा हुई है। इसी कारण वह बहुत सांकेतिक और व्यंजनात्मक हो गया है। रहस्यवादी के लिए आस्तिक होना पहली शर्त है। कबीर पूर्ण आस्तिक हैं। उन्होंने नास्तिकों के शून्य को भी ब्रह्म बना दिया है, परन्तु उनकी आस्तिकता परम्परा विश्वासों पर आधारित न होकर प्रत्यक्षानुभूति पर आश्रित है -देख्या है तो कस कहूँ, कहै तो को पतियाय। गूँगे केरी सरकरा, खाये औ बैठा मुस्काय। जायसी भी पूर्ण आस्तिक हैं, लेकिन उनकी आस्तिकता कबीर से भिन्न है। इस्लाम में प्रत्यक्षानुभूति पर विश्वास न कर इमान पर किया जाता है। इस कारण उनमें भावना और कल्पना का प्राधान्य है - निमिख न लाग कर ओहि सबइ कीन्ह पल एक। गगन अंतरिख राखा बाज खंभ बिन्दु टेक। उपास्य के मामले में दोनों के ही उपास्य सगुण और निर्गुण के समन्वित रूप वाले हैं। परन्तु जायसी की प्रेम-भावना समष्टि मूलक है, इसलिए वे अपने आराध्य का चिन्तन एक विराट सौन्दर्यमयी सत्ता के रूप में करते हैं। कबीर की भावना व्यष्टि मूलक है, इसलिए उसमें उस विराट सौन्दर्य के दर्शन नहीं होते। जायसी उसके सौन्दर्य वर्णन के लिए बाह्य साधनों का खुलकर उपयोग करते हैं, जबकि कबीर में बाह्य साधनों की अपेक्षाकृत न्यूनता है।

जायसी पद्मावती के सौन्दर्य में उसी विराट सौन्दर्य का प्रतिरूप देखते हैं - नयन जो देखा कमल भा, निर्मल नीर सरीर। हँसत जो देखा हँस भा, दसन जोति नगहीर। कबीर का ब्रह्म सुनि मण्डल बासी है -कोई ऐसा न मिले, सब विधि देहि बताय। सुनि मण्डल में पुरुष एक, ताही रहै ल्यौं लाय। दोनों ही तत्त्व रूप में ब्रह्म के उपासक हैं। दोनों ही शून्यवादी हैं। दोनों के उपास्य सौन्दर्य रूप

हैं, किन्तु जायसी की सम्पूर्ण दृष्टि उसी आध्यात्मिक दिव्य सौन्दर्य से ओत-प्रोत है। उनका लक्ष्य सौन्दर्य की प्राप्ति है। इसके विपरीत कबीर के पास अपने आराध्य के सौन्दर्य को व्यक्त करने के साधन नहीं हैं। वे उसे केवल प्रकाश-स्वरूप कहकर ही संतोष कर लेते हैं। यदि उन्होंने कहीं प्रयत्न भी किया है तो उसमें जायसी का-सा भावात्मक सरस एवं ग्राह्य सौन्दर्य नहीं आ पाया है। ब्रह्म की अनुभूति के विषय में दोनों समान विश्वास करते हैं। परन्तु कबीर-औपे आप चिनारिया, तब केत होय आनन्द रे। कहकर उसे विचार प्रधान बना देते हैं। जायसी-"आप पिछौनें आपै आप" कहकर उसे भावना-प्रधान बना देते हैं। इस अनुभूति के लिए कबीर का विश्वास है कि - "कुछ करनी कुछ करमगति, कछू पूरबला लेख।" की सहायता से ही उस आलेख की अनुभूति की जा सकती है। इसके विपरीत जायसी - न जानौ कौन पौन लइे पाया। कहकर केवल आराध्य की कृपा पर ही विश्वास करते हैं।

कबीर और जायसी दोनों ने ही प्रेम रूपी अमृत का पान किया है, परन्तु जायसी के प्रेम में मादकता, कोमलता और भावुकता का प्राधान्य है। उनके अनुसार - प्रेम फाँद जो परा न छूटा। जिउ जाइ पै फाँद न टूटा। यह प्रेम की अग्नि बड़ी भयानक है, जो सारी सृष्टि में व्याप्त है। वह विरही और वह हृदय धन्य है, जिसमें यह समा जाती है - मुहम्मद चिनगी प्रेम की, सुनि महि गगन डराय। धनि बिरही और धनि हिया, जहै अस अगिनि समाय। विरह और मिलन के वर्णन में दोनों में कोई मौलिक अन्तर नहीं दिखाई पड़ता। दोनों पर कुछ हद तक सूफी काव्य परम्परा का प्रभाव पड़ा है। दोनों को ही अपने प्रियतम का पता गुरु द्वारा मिलता है। कबीर को यह प्रेमतत्त्व के रूप में तथा जायसी को विरह-तत्त्व के रूप में प्राप्त होता है। कबीर को -गुरु ने प्रेम का अंग पढ़ाय दिया रे तथा जायसी को गुरु बिरह चिनङ्गी जो मेला। सो सुलगाई लेइ जो चेला। जायसी का प्रेम रूप-लिप्सा जनित है और कबीर का संस्कार मूलक। यही कारण है कि सूफियों के प्रेम में अलौकिक भक्ति के साथ-साथ लौकिक रति को भी महत्त्व मिला है। जायसी का सम्पूर्ण काव्य सौन्दर्य और प्रेम की भावना से विभोर है। इस लौकिक सौन्दर्य और रति के कारण ही जायसी के रहस्यवाद में मादकता एवं विकास का पुट अत्यंत गहरा हो गया है। कबीर में इस प्रकार के वर्णन का अभाव है। जायसी और कबीर के प्रेम में विरह और मिलन के कुछ उद्धरण प्रस्तुत हैं -विरह -सब रग तंत रबान तन, विरह बजावै नित्त और न कोई सुनि सकै, कै साँई के चित्त। रकत ढरा माँसू गरा हाड़ भए सब संख। ध्धनि

सारस होई ररि मुई आइ समेटहु पंख। मिलन –कहा मानसर चहा सो पाई। "पारस रूप इहाँ लगि आईभा निरमर तेन्ह पायन परसें।" "पावा रूप रूप के दरसेंमलै समीर बास तन आई।" भा सीतल गै तपन बुझाईन जनौं कौनु पौन लै आवा। पुन्नि दसा मैं पाप गँवावा। हरि संगति सीतल भया, मिटी मोह की ताप। निज बासुरि सुख निधि लह्या, जब अन्तर प्रगट्या आप आध्यात्मिक अनुभूति डॉ0 त्रिगुणायत के अनुसार कुमारी अण्डरहिल नामक अंग्रेज महिला ने इस अनुभूति की पाँच अवस्थाएँ मानी हैं –1. आत्मा की जाग्रतावस्था – इसमें ब्रह्म–जिज्ञासा उत्पन्न होती है और साधक ज्ञान और वैराग्य की ओर उन्मुख होने लगता है। 2. आत्मा के परिष्करण की स्थिति – इसमें साधक विविध प्रकार की साधनाओं में लग जाता है। 3. आत्मा की आंशिक अनुभूति की स्थिति – साधक इसमें विविध ध्वनियाँ सुनता है और विविध दृश्य देखता है। 4. रहस्यानुभूति के विनों की अवस्था–इसमें ईश्वरानुभूति में बाधाएँ पड़ने लगती है। 5. तादात्म्क की स्थिति – यह आत्मा–परमात्मा के साक्षात्कार और तादात्म्य की स्थिति है। उपर्युक्त सभी स्थितियों का वर्णन सूफी तो बड़े विस्तार से करते हैं, किन्तु कबीर ने उनका वर्णन समान रूप से किया है। पहली स्थिति जो जाग्रतावस्था कहलाती है, में कबीर और जायसी ने गहरी जिज्ञासा और मिलन के लिए व्याकुलता दिखाई है। जायसी का रत्नसेन जब अपनी प्रियतमा के दिव्य सौन्दर्य की तन्मयता से जागता है तो सारा संसार उसे नीरस लगने लगता है और उसमें वैराग्य भावना उत्पन्न हो जाती है – जब भा चेत उठा बैरागा(जायसी) कबीर वैराग्य को महत्त्व नहीं देते। उनके लिए ज्ञान ही सब कुछ है – कबीर जाग्याहि चाहिए, क्या घर क्या वैराग।

(कबीर)साधना की दूसरी अवस्था में साधक विरह से व्यथित होने के साथ ही आराध्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने लगता है। कबीर के विरह वर्णन में सूफी और भक्त दोनों पद्धतियों का प्रभाव है। भक्तों से प्रभावित होकर वे –जिन पर गोविन्द बीछुड़े, तिनको कौन हवाल। कहने लगते हैं और सूफियों का अनुसरण करते हुए कहते हैं – अंषड़िया झांई पड़ी, पंथ निहारि निहारि। जीभड़िया छाला पड़्या, राम पुकारि पुकारि। जायसी ने कबीर की यौगिक साधना की तरह सूफी–साधना अपनाई है। इसमें अपना कल्ब (हृदय) शुद्ध करके रुह को विकसित करना पड़ता है। इस शुद्धि के लिए साधक को सात मुकामात से होकर गुजरना पड़ता है। साथ ही उसे ईश्वर स्मरण और जप आदि भी करना पड़ता है। ये हालात कहलाते हैं। इस प्रकार साधक शुद्धाचरण आदि की सहायता

से अपने शरीर और मन की शुद्धि कर साधना के मार्ग पर आगे बढ़ता है। इस मार्ग पर चार पड़ाव पड़ते हैं–शरीयत, तरीकत, हकीकत और मारफत। अन्तिम अवस्था, हाल अर्थात् भावातिरेक की चरम अवस्था होती है और यहीं आकर रूह फना होकर आराध्य से जा मिलती है। जायसी में उपर्युक्त सम्पूर्ण अवस्थाओं के चित्रण मिलते हैं। उन्होंने प्रियतमा की प्राप्ति–चार बसेरे सों चढैं, सत सों उतरे पार कहकर इसी सूफी साधना पद्धति का पालन किया है। जबकि कबीर ज्ञान, वैराग्य और योग द्वारा आत्म परिष्करण कर भक्ति में तन्मय हो साक्षात्कार करना चाहते हैं। इसके लिए उन्होंने स्थान–स्थान पर जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है, जैसे—सिद्धान्त, वाक्य कहकर ज्ञान को प्रधानता दी है। साधना की तीसरी अवस्था में साधक को आराध्य की झलक–सी मिल जाती है। कबीर इस स्थिति का आभास पाकर हर्ष से उन्मत्त हो उठते हैं। यथा – जरा मरण व्यापै नहीं, युवा न सुनिये कोय। चलि कबीर तेहि देसिडे, जहँ वैद विधाता होय। इस वर्णन में तीव्रता तो है, मगर सरसता और कोमलता की रमणीयता नहीं आ पाई है। जायसी के ऐसे वर्णनों में पर्याप्त सरसता और माधुर्य है। प्रियतम की झलक का वर्णन करने के उपरांत जायसी उस लोक का चित्रण करते हैं – जहाँ न राति न दिवस है, जहाँ न पौन न पानि। तेहि बन सुअटा चल बसा, कौन मिलावै आनि। चौथी अवस्था विन की अवस्था है। साधक के मार्ग में अनेक विन बाधाएँ उत्पन्न होती हैं। कबीर इन बाधाओं को माया का रूप देते हैं। माया ठगिनी का रूप धारण कर अनेक विन बाधाएँ उत्पन्न करती है। इसी प्रकार जायसी ने भी अपने नायक के मार्ग में पड़ने वाली विविध कठिनाईयों का वर्णन बड़े विस्तार से किया है, परन्तु जायसी ने कबीर के समान माया के विभिन्न जालों द्वारा उत्पन्न कठिनाईयों की तरफ कोई ध्यान नहीं दिया है। साधक की अंतिम स्थिति मिलन की अवस्था है। मिलन होने पर साधक पूर्ण सिद्धावस्था को प्राप्त हो जाता है।

कबीर आराध्य से मिलन मात्र की कल्पना से काँप उठते हैं। जायसी ने मिलन से पूर्व की इस रोमांचित अवस्था का चित्रण ऐसा ही किया है, किन्तु उसमें लौकिकता का प्राधान्य है। जायसी के इस वर्णन में रमणीयता है, एक अलौकिक आनन्द है। इसकी तुलना में कबीर का वर्णन शुष्क और नीरस है। इसका कारण यह है कि कबीर उपनिषदों से प्रभावित हैं, जबकि जायसी सूफी सौन्दर्यवाद और प्रतिबिम्बवाद से प्रभावित है। पूर्ण मिलन ही दोनों साधकों की साधना की पूर्ण स्थिति है। इस स्थिति के परिणाम स्वरूप कबीर तो पूर्ण रूप से जीवन मुक्त हो जाते हैं और अमर हो जाते हैं – हम न मरे मरिहैं संसार, हमकू

मिले जियावन हारा। रहस्यवाद एक आध्यात्मिक अनुभूति का परिणाम है, अतः इसकी अभिव्यक्ति साधारण रूप से नहीं हो सकती। कबीर और जायसी दोनों ने इसकी अभिव्यक्ति अलग-अलग ढंग से की है। कबीर ने प्रतीक-पद्धति, रूपक पद्धति तथा उल्टबाँसियों की सहायता से अपने रहस्यवाद की अभिव्यक्ति की है तो जायसी ने अपनी स्वानुभूति की अभिव्यक्ति के लिए प्रेम-कथा का सहारा लेकर उसमें असफल अन्योक्ति और सफल समासोक्ति का प्रयोग किया हैं। साथ ही उन्होंने प्रतीक पद्धति को भी अपनाया है।

अतः कहा जा सकता है कि जायसी और कबीर हिन्दी साहित्य के श्रेष्ठ रहस्यवादी कवि हैं। एक (कबीर) का रहस्यवाद आध्यात्मिक, एकान्तिक व्यष्टि मूलक, सजीव और वर्णनात्मक है, तो दूसरे (जायसी) का सरस, संकेतात्मक और समष्टि मूलक है।

6

कबीर ग्रंथावली

कबीर निर्गुण सन्त काव्यधारा के ऐसे शब्द-साधक हैं जिन्होंने अपने युग की धार्मिक, सामाजिक एवं राजनीतिक व्यवस्था से टकराकर अद्‌भुत शक्ति प्राप्त की। पारम्परिक सांस्कृतिक प्रवाह में सम्मिलित प्रदूषित तत्त्वों को छानकर उसे मध्यकाल के लिए ही आस्वादनीय नहीं, बल्कि आधुनिक जनमानस के लिए भी उपयोगी बना दिया। भारतीय धर्म साधना में निडर तथा अकुंठित व्यक्तित्त्व विरले है। पंडितों, मौलवियों, योगियों आदि से लोहा लेकर कबीर ने जन साधारण के स्वानुभूतिजन्य विचारों और भावों की मूल्यवत्ता स्थापित की। कबीर की वाणी संत-कंठ से निसृत होकर साधकों, अनुयायियों एवं लोक जीवन में स्थान एवं रुचि भेद के अनुसार विविध रूपों में परिणित हो गयी। इसलिए कबीर की वाणी के प्रामाणिक पाठ निर्धारण की जटिल समस्या खड़ी हो गयी। कबीर पंथ में बीजक की श्रेष्ठता मान्य है, विद्वानों ने ग्रंथावलियों को महत्त्व दिया है। सामान्य जन के लिए लोक में व्याप्त कबीर वाणी ग्राह्य है।

ग्रंथावली का संपादन

अत: तीनों परम्पराओं में से किसी को भी त्यागना उचित नहीं है। फलत: कबीर की रचनाओं का समग्र रूप तीनों के समाहार से ही संभव है। प्रस्तुत ग्रंथावली का संपादन इसी दृष्टि से किया गया है। इसमें अपनी इच्छित दिशा में आवश्यकता से अधिक खींचकर पाठकीय सोच को कुंठित करने की चेष्टा नहीं

की गयी है। कबीर-वाणी के प्रामाणिक एवं समग्र पाठ से तथा उसमें निहित विचारों, भावों एवं समग्र पाठ की दृष्टि से तथा उनमें निहित विचारों, भावों एवं अनुभूतियों को उद्घाटित करने की दृष्टि से यह कृति निश्चित ही उपादेय सिद्ध होगी।

रामकिशोर शर्मा का कथन

जो व्यक्ति काल के विरुद्ध खड़ा होता है उसे चतुर्दिक से आघात सहने पड़ते हैं, सम्पूर्ण अस्तित्त्व को मिटा देने वाले आघातों से जब वह अक्षत शेष रह जाता है तो जनमानस इस अनुमान से उसकी ओर दौड़ पड़ता है कि उसमें कुछ असाधारण अवश्य है। उसके विषय में तरह-तरह की किंवदन्ती बनने लगती हैं। निरन्तर वह असाधारण होता जाता है, यहाँ तक कि उसे ईश्वरीय अवतार भी मान लिया जाता है। कबीर कुछ इसी तरह के व्यक्ति हैं, जो गौतम बुद्ध, महावीर आदि की तरह राजघराने की शक्ति सम्पन्नता तथा वैभव की पृष्ठभूमि नहीं रखते थे, एक नितान्त उपेक्षित तिरस्कृत परिवार की पृष्ठभूमि से उठकर धार्मिक व्यवस्था, सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध अपनी जान को जोखिम में डालकर खड़े हो गए। उन्होंने जो कुछ किया, ईश्वर के आदेश से ही किया। उनकी साधना, आत्मा, परमात्मा एवं जीवन की विविध अनुभूतियाँ कवित्वमय वाणी में जब उद्घोषित होने लगीं तो उनके सम्पर्क में रहने वाले संतों, श्रद्धालु, शिष्यों तथा जनता ने उन्हें उपयोगी समझकर अपने मस्तिष्क में अंकित कर लिया, कुछ ने उन्हें आगे-पीछे लिपि बद्ध भी किया। जैसे पहाड़ी घाटी में तेज आवाज से चिल्लाने पर कुछ देर तक वाणी की प्रतिध्वनि गूँजती रहती है, उसी तरह महान् रचनाकार की वाणी जनता के हृदय-गुहा में ध्वनित, प्रतिध्वनित होती है, यह सिलसिला शताब्दियों तक चलता रहता है। बड़ा रचनाकार सिर्फ रचना नहीं बल्कि रचनात्मक क्षमता को उत्तेजित भी करता है। उसके पाठक और श्रोता उसकी रचना में अपनी रचना को भी मिलाने का प्रयत्न करते हैं या बड़े रचनाकार को प्रमाण (आप्त) मानकर अपनी रचना को उसके नाम की मुहर से प्रचारित, प्रसारित करने का दुस्साहस भी करते हैं।

मुझे श्याम सुन्दर दास की ग्रंथावली कतिपय कारणों से अधिक प्रामाणिक लगती है, हिन्दी जगत् में उसकी स्वीकृति भी अपेक्षाकृत अधिक है। वैज्ञानिक पाठ निर्धारण में सबसे अधिक उपेक्षा लोक मानस में प्रतिष्ठित कबीर के पाठों की हुई है। लोक में कबीर की जो वाणी मौखिक परम्परा से चली आ रही है

उसको शत-प्रतिशत शुद्ध तो नहीं माना जा सकता किन्तु उसकी मूल चेतना में कबीर की चेतना मौजूद है उसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। डॉ.माता प्रसाद गुप्त, श्यामसुन्दर दास, डॉ.रामकुमार वर्मा, डॉ.पारसनाथ तिवारी, जयदेव सिंह, डॉ.शुकदेव सिंह आदि अनेक विद्वानों द्वारा संपादित कबीर के पाठ को हिन्दी के विद्वान तथा प्रबुद्ध पाठक प्रामाणिक मानकर स्वीकार करते हैं। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कबीर के परिशिष्ट में जो 'कबीर-वाणी' को संकलित किया है उसमें लोक परम्परा भी अनुस्यूत है। मैंने 'कबीर ग्रंथावली' का संपादन उपर्युक्त ग्रंथों के आधार पर किया है। इसमें इस बात पर विशेष ध्यान रहा कि कोई भी परम्परा पूरी तरह उपेक्षित न रहे।

काल की कठोर आवश्यकताएँ महात्माओं को जन्म देती हैं। कबीर का जन्म भी समय की विशेष आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हुआ था। अवसर के उचित उपयोग अनभिज्ञ और कर्मठता के उदासीन रहने वाली हिंदू जाति को धर्मजन्य दयालुता ने उसे दासता के गर्त में ढकेल दिया था। उसका शूरवीरत्व उसके किसी काम न आया। वीरता के साथ-साथ वीर गाथाओं और वीर गीतों की अंतिम प्रतिध्वनि भी रणथंभौर के पतन के साथ ही विलीन हो गयी।

शहाबुद्दीन गोरी (मृत्यु सं. 1263) के समय से ही इस देश में मुसलमानों के पाँव जमने लग गये थे, उसके गुलाम कुतुबुद्दीन ऐबक (सं. 1263-1273) ने गुलाम वंश की स्थापना कर पठानी सल्तनत और भी दृढ़ कर दी। भारत की लक्ष्मी पर लुब्ध मुसलमानों का विकराल स्वरूप, जिसे उनकी धर्मांधता ने और भी अधिक विकराल बना दिया था, अलाउद्दीन खिलजी (सं. 1352-1372) के समय में भली-भाँति प्रकट हुआ। खेतों में खून और पसीना एक करने वाले किसानों की कमाई का आधे से अधिक अंश भूमिकर के रूप में राजकोष में जाने लगा। प्रजा दाने-दाने को तरसने लगी। सोने-चाँदी की तो बात ही क्या, हिन्दुओं के घरों में ताँबे, पीतल की थाली, लोटों तक का रहना मुलतान को खटकने लगा। उनका घोड़े की सवारी करना और अच्छे कपड़े पहनना महान् अपराधों में गिना जाने लगा। नाममात्र के अपराध के लिए भी किसी की खाल खिंचवाकर उसमें भूसा भरवा देना एक साधारण बात थी।

अलाउद्दीन खिलजी के लड़के कुतुबुद्दीन मुबारक (सं. 1373-1377) के शासनकाल में जब देवगिरि का राजा हरपाल बन्दी बना करके दिल्ली लाया गया, तब उसकी यही दशा हुई। मन्दिरों को गिराकर उसके स्थान पर मस्जिदें बनाने का लग्गा तो बहुत पहले ही लग चुका था, अब स्त्रियों के मान और पतिव्रता

की रक्षा करना भी कठिन हो गया। चित्तौड़ पर अलाउद्दीन की दो चढ़ाइयाँ केवल अतुल सुंदरी पद्मिनी की ही प्राप्ति के लिए हुईं, अंत में गढ़ के टूट जाने और अपने पति भीमसी के वीरगति पाने पर पुण्य प्रतिमा महाराणी पद्मिनी ने अन्य वीर क्षत्राणियों के साथ अपने मान की रक्षा के लिए अग्निदेव के क्रोड़ में शरण ली और जौहर करके हिंदू जाति का मस्तक ऊँचा किया।

तुगलक वंश के अधिकार रूढ़ होने पर भी ये कष्ट कम नहीं हुए वरन् मुहम्मद तुगलक (सं. 1382-1408) की ऊट-पटाँग व्यवस्थाओं से और भी बढ़ गये। समस्त राजधानी, जिसमे नवजात शिशु से लेकर मरणोन्मुख वृद्ध तक थे, दिल्ली से लाकर दौलताबाद में बसाई गयी। परंतु जब वहाँ आने से अधिक लोग मर गये तब सबको फिर दिल्ली लौट जाने की आज्ञा दी गयी। हिंदू जाति के लिए जीवन धीरे-धीरे एक भार-सा होने लगा, कहीं से आशा की झलक तक न दिखाई देती थी। चारों ओर निराशा और निरावलम्बता का अंधकार छाया हुआ था।

हिंदू रक्त ने खुसरो की नसों में उबलकर हिंदू राज्य की स्थापना का प्रयत्न किया तो था (वि. सं. 1308) पर वह सफल न हो सका। इसके अनंतर सारी आशाएँ बहुत दिनों के लिए मिट्टी में मिल गयीं। तैमूर के आक्रमण ने देश को जहाँ-तहाँ उजाड़ कर नैराश्य की चरम सीमा तक पहुँचा दिया। हिंदू जाति में से जीवन शक्ति के सब लक्षण मिट गये। विपत्ति की चरम सीमा तक पहुँचकर मनुष्य पहले तो परमात्मा की ओर ध्यान लगाता है और अनेक कष्टों से त्रण पाने की आशा करता है, पर जब स्थिति में सुधार नहीं होता, तब परमात्मा की भी उपेक्षा करने लगता है, उसके अस्तित्त्व पर उसका विश्वास ही नहीं रह जाता।

कबीर के जन्म के समय हिंदू जाति की यही दशा हो रही थी। वह समय और परिस्थिति अनीश्वरवाद के लिए बहुत ही अनुकूल थी, यदि उसकी लहर चल पड़ती तो उसे रोकना बहुत ही कठिन हो जाता। परंतु कबीर ने बड़े ही कौशल से इस अवसर से लाभ उठाकर जनता को भक्तिमार्ग की ओर प्रवृत्त किया और भक्ति-भाव का प्रचार किया। प्रत्येक प्रकार की भक्ति के लिए जनता इस समय तैयार नहीं थी।

मूर्तियों की अशक्तता (वि.सं. 1081) में बड़ी स्पष्टता से प्रकट हो चुकी थी जब कि मुहम्मद गजनवी ने आत्मरक्षा से विरत, हाथ पर हाथ रखकर बैठे हुए श्रद्धालुओं को देखते-देखते सोमनाथ का मंदिर नष्ट करके उनमें से हजारों को तलवार के घाट उतारा था। गजेंद्र की एक ही टेर सुनकर दौड़ आने वाले

और ग्राह से उसकी रक्षा करने वाले सगुण भगवान जनता के घोर संकटकाल में भी उसकी रक्षा के लिए आते हुए न दिखाई दिए। अतएव उनकी ओर जनता को सहसा प्रवृत्त कर सकना असंभव था। पंढरपुर के भक्त शिरोमणि नामदेव की सगुण भक्ति जनता को आकृष्ट न कर सकी, लोगों ने उनका वैसा अनुकरण न किया जैसा आगे चलकर कबीर का किया, और अंत में उन्हें भी ज्ञानाश्रित निर्गुण भक्ति की ओर झुकना पड़ा।

उस समय परिस्थिति केवल निराकार और निर्गुण ब्रह्म की भक्ति के ही अनुकूल थी, यद्यपि निर्गुण शक्ति का भली-भाँति अनुभव नहीं किया जा सकता था, उसका आभास मात्र मिल सकता था। पर प्रबल जलधार में बहते हुए मनुष्य के लिए यह कूलस्थ मनुष्य या चट्टान किस काम की है, जो उसकी रक्षा के लिए तत्परता न दिखलाए। पर उसकी ओर बहकर आता हुआ एक तिनका भी उसके हृदय में जीवन की आशा पुनरुद्दीप्त कर देता है और उसी का सहारा पाने के लिए वह अनायास हाथ बढ़ा देता है। कबीर ने अपनी निर्गुण भक्ति के द्वारा यही आशा भारतीय जनता के हृदय में उत्पन्न की और उसे कुछ अधिक समय तक विपत्ति की इस अथाह जलराशि के ऊपर बने रहने की उत्तेजना दी, यद्यपि सहायता की आशा से आगे बढ़े हुए हाथ को वास्तविक सहारा सगुण भक्ति से ही मिला और केवल रामभक्ति ही उसे किनारे पर लाकर सर्वथा निरापद कर सकी।

रामभक्ति ने न केवल सगुण कृष्णभक्ति के समान जनता की दृष्टि जीवन के आनन्दोल्लासपूर्ण पक्ष की ओर ही लगाई, प्रत्युत आनंद विरोधिनी मांगलिक शक्तियों के संहार का विधान कर दूसरे पक्ष में भी आनंद की प्राण-प्रतिष्ठा की। पर इससे जनता पर होने वाले कबीर के उपकार का महत्त्व कम नहीं हो जाता। कबीर यदि जनता को भक्ति की ओर न प्रवृत्त करते तो क्या यह संभव था कि लोग इस प्रकार सूर की कृष्णभक्ति अथवा तुलसी की रामभक्ति आँखें मूँदकर ग्रहण कर लेते?

सारांश यह है कि कबीर का जन्म ऐसे समय में हुआ जब कि मुसलमानों के अत्याचारों से पीड़ित भारतीय जनता को अपने जीवित रहने की आशा नहीं रह गयी थी और न उसमें अपने आपको जीवित रखने की इच्छा ही शेष रह गयी थी। उसे मृत्यु या धर्म परिवर्तन के अतिरिक्त और कोई उपाय ही नहीं देख पड़ता था। यद्यपि धर्मज्ञ तत्त्वज्ञों ने सगुण उपासना से आगे बढ़ते-चढ़ते निर्गुण उपासना तक पहुँचने का सुगम मार्ग बतलाया है और वास्तव में यह तत्त्व बुद्धिसंगत भी

जान पड़ता है, पर उस समय सगुण उपासना की निःसारता का जनता को परिचय मिल चुका था और उस पर से उनका विश्वास भी हट चुका था। अतएव कबीर को अपनी व्यवस्था उल्टनी पड़ी। मुसलमान भी निर्गुण उपासक थे। अतएव उनसे मिलते-जुलते पथ पर लगाकर कबीर ने हिंदू जनता को संतोष और शांति प्रदान करने का उद्योग किया। यद्यपि उस उद्योग में उन्हें सफलता नहीं प्राप्त हुई, तथापि यह स्पष्ट है कि कबीर के निर्गुणवाद में तुलसी और सूर के सगुणवाद के लिए मार्ग परिष्कृत कर दिया और उत्तरी भारत के भावी धर्ममय जीवन के लिए उसे बहुत कुछ संस्कृत और परिष्कृत बना दिया।

भक्त संतों की परंपरा

जिस समय कबीर आविर्भूत हुए थे, वह समय ही भक्ति की लहर का था। उस लहर को बढ़ाने के प्रबल कारण भी प्रस्तुत थे। मुसलमानों के भारत में आ बसने से परिस्थिति में बहुत कुछ परिवर्तन हो गया। हिंदू जनता का नैराश्य दूर करने के लिए भक्ति का आश्रय ग्रहण करना आवश्यक था। इसके अतिरिक्त कुछ लोगों ने हिंदू और मुसलमान भक्त संतों की परंपरा विरोधी जातियों को एक करने की आवश्यकता का भी अनुभव किया। इस अनुभव के मूल में एक ऐसे सामान्य भक्तिमार्ग का विकास गर्भित था जिससे परमात्मा की एकता के आधार पर मनुष्यों की एकता का प्रतिपादन हो सकता था और जिसका मूलाधार भारतीय अद्वैतवाद और मुसलमानी एकेश्वरवाद के सूक्ष्म भेद की ओर ध्यान नहीं दिया गया और दोनों के एक विचित्र मिश्रण के रूप में निर्गुण भक्तिमार्ग चल पड़ा। रामानंद जी के बारह शिष्यों में से कुछ इस मार्ग के प्रवर्तन में प्रवृत्त हुए जिनमें से कबीर प्रमुख थे। शेष में सेना, धना, भवानंद, पीपा और रैदास थे, परंतु उनका उतना प्रभाव न पड़ा जितना कबीर का। नरहर्यानंद जी ने अपने शिष्य गोस्वामी तुलसीदास को प्रेरित करके उनके कर्तृत्व से सगुण रामभक्ति का एक और ही स्रोत प्रवाहित कराया।

मुसलमानों के आगमन से हिंदू समाज पर एक और प्रभाव पड़ा। पद-दलित शूद्रों की दृष्टि में उन्मेष हो गया। उन्होंने देखा कि मुसलमानों में द्विजों और शूद्रों का भेद नहीं है। सधर्मी होने के कारण वे सब एक हैं, उनके व्यवसाय ने उनमें कोई भेद नहीं डाला है, न उनमें कोई छोटा है और न कोई बड़ा। अतएव इन ठुकराए हुए शूद्रों में से ही कुछ ऐसे महात्मा निकले जिन्होंने मनुष्यों की एकता को उद्घोषित करना चाहा। इस नवोत्थित भक्ति रंग में सम्मिलित होकर

हिंदू समाज में प्रचलित इस भेद-भाव के विरुद्ध भी आवाज उठाई गयी। रामानंद जी ने सबके लिए भक्ति का मार्ग खोलकर उनको प्रोत्साहित किया। नामदेव दर्जी, रैदास चमार, दादू धुनिया, कबीर जुलाहा आदि समाज की नीची श्रेणी के ही थे, परंतु उनका नाम आज तक आदर से लिया जाता है।

वर्णभेद से उत्पन्न उच्चता और नीचता को ही नहीं, वर्गभेद से उत्पन्न उच्चता- नीचता को भी दूर करने का इस निर्गुण भक्ति से प्रयत्न किया। स्त्रियों का पद स्त्री होने के कारण नीचा न रह पाया। पुरुषों के ही समान वे भी भक्ति की अधिकारिणी हुई। रामानंद जी के शिष्यों में से दो स्त्रियाँ थीं, एक पद्मावती और दूसरी सुरसरी। आगे चलकर सहजोबाई और दयाबाई भी भक्त-संतों में से हुई। स्त्रियों की स्वतंत्रता के परम विरोधी, उनको घर की चारदीवारी के अन्दर ही कैद रखने के कट्टर पक्षपाती तुलसीदास जी भी, जो मीराबाई को 'राम विमुख तजिय कोटि बैरी सम यद्यपि परम स्नेही' का उपदेश दे सके, वह निर्गुण भक्ति के ही अनिवार्य और अलक्ष्य प्रभाव के प्रसाद से समझना चाहिए। ज्ञानी संतों ने स्त्री की जो निंदा की है, वह दूसरी ही दृष्टि से है। स्त्री से उनका अभिप्राय स्त्री-पुरुष के कामवासनापूर्ण संसर्ग से है। स्त्री की निंदा कबीर से बढ़कर कदाचित् ही किसी ने की हो, परंतु पति-पत्नी की भाँति न रहते हुए भी लोई का आजन्म उनके साथ रहना प्रसिद्ध है।

कबीर इस निर्गुण भक्ति प्रवाह के प्रवर्तक हैं, परंतु भक्त नामदेव इनसे भी पहले हो गये थे। नामदेव का नाम कबीर ने शुक, उद्धव, शंकर आदि ज्ञानियों के साथ लिया है-

जागे सुक ऊधव अकूर हणवंत जागे लै लँगूर।
संकर जागे चरन सेव, कलि जागे नामाँ जैदेव।

अक्रूर, हनुमान और जयदेव की गिनती ज्ञानियों (जाग्रतों) में कैसे हुई, यह नहीं कह सकते। नामदेव जी जाति के दर्जी थे और दक्षिण के सतारा जिले के नरसी बमनी नामक स्थान में उत्पन्न हुए थे। पंढरपुर में विठोबा जी का मंदिर है। ये उनके बड़े भक्त थे। पहले ये सगुणोपासक थे, परंतु आगे चलकर इनका झुकाव निर्गुण भक्ति की ओर हो गया, जैसा उनके गायनों के नीचे दिए उदाहरणों से पता चलेगा-

(क) दशरथ राय नंद राजा मेरा रामचन्द्र,
प्रणवै नामा तत्त्व रस अमृत पीजै।।

× × ×

'धनि धनि मेघा रोमावली। धनि धनि कृष्णा औढ़े काँवली।।
धनि धनि तू माता देवकी। जिह घर रमैया कमलापति।।
धनि धनि बनखंड बृंदावना। जहँ खेलै श्रीनारायना।।
बेनु बजावै गोधन चारैं। नामे का स्वामी आनंद करै।।
(ख) 'पांडे तुम्हारी गायत्री लोधे का खेत खाती थी।।
लैकरि ठेंगा टँगरी तोरी लंगत लंगत जाती थी।।
पांडे तुम्हारा महादेव धौले बलद चढ़ा आवत देखा था।।
रावन सेंती सरवर होई घर की जोय गँवाई थी।।

कबीर के पीछे तो संतों की मानो बाढ़-सी आ गयी और अनेक मत चल पड़े। पर सब पर कबीर का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित है। नानक, दादू, शिवनारायण, जगजीवनदास आदि जितने प्रमुख संत हुए, सबने कबीर का अनुकरण किया और अपना-अपना अलग मत चलाया। इनके विषय की मुख्य बातें ऊपर आ गयी हैं, फिर भी कुछ बातों पर ध्यान दिलाना आवश्यक है।

सबने नाम, शब्द, सद्गुरु आदि की महिमा गाई है और मूर्तिपूजा, अवतारवाद तथा कर्मकांड का विरोध किया है, तथा जाति-पाँति का भेद-भाव मिटाने का प्रयत्न किया है, परंतु हिंदू जीवन में व्याप्त सगुण भक्ति और कर्मकांड के प्रभाव से इनके परिवर्तित मतों के अनुयायियों द्वारा वे स्वयं परमात्मा के अवतार माने जाने लगे हैं और उनके मतों में भी कर्मकांड का पाखंड घुस गया है। कई मतों में केवल द्विज लिये जाते हैं। केवल नानक देव जी का चलाया सिक्ख संप्रदाय ही ऐसा है जिसमें जाति-पाँति का भेद नहीं आने पाया, परंतु उसमें भी कर्मकांड की प्रधानता हो गयी है और ग्रंथसाहब का प्रायः वैसा ही पूजन किया जाता है जैसा मूर्तिपूजक मूर्ति का करते हैं। कबीरदास के मनगढ़ंत चित्र बनाकर उनकी पूजा कबीरपंथी मठों में भी होने लग गयी है और सुमिरनी आदि का प्रचार हो गया है।

यद्यपि आगे चलकर निर्गुण संत मतों का वैष्णव संप्रदायों से बहुत भेद हो गया, तथापि इसमें संदेह नहीं की संतधारा का उद्गम भी वैष्णव भक्ति रूपी स्रोत से ही हुआ है। श्रीरामानुज ने संवत् 1144 में यादवाचल पर नारायण की मूर्ति स्थापित करके दक्षिण में वैष्णव धर्म का प्रवाह चलाया था पर उनका भक्ति का आधार ज्ञानमार्गी अद्वैतवाद था उनका अद्वैत विशिष्टाद्वैत हुआ। गुजरात में माधवाचार्य ने द्वैत मूलक वैष्णव धर्म का प्रवर्तन किया। जो कुछ कहा जा चुका है, उससे पता लगेगा कि संत धारा अधिकतर ज्ञानमार्ग के ही मेल में रही। पर

उधर बंगाल में महाप्रभु चैतन्यदेव और उत्तर भारत में वल्लभाचार्य जी के प्रभाव से भक्ति के लिए परमात्मा के सगुण रूप की प्रतिष्ठा की गयी यद्यपि सिद्धांत रूप में ज्ञानमार्ग का त्याग नहीं किया गया और तो और तुलसीदास जी तक ने ज्ञानमार्ग की बातों का निरुपण किया है, यद्यपि उन्होंने उन्हें गौण स्थान दिया है।

संतों में भी कहीं-कहीं अनजान में सगुणवाद आ गया है और विशेषकर कबीर में क्योंकि भक्ति गुणों का आश्रय पाकर ही हो सकती है। शुद्ध ज्ञानाश्रयी उपनिषदों तक में उपासना के लिए ब्रह्म में गुणों का आरोप किया गया है। फिर भी तथ्य की बात यह जान पड़ती है कि वैष्णव संप्रदाय ने आगे चलकर व्यवहार में सगुण भक्ति का आश्रय लिया, तब भी संत मतों ने ज्ञानाश्रयी निर्गुण भक्ति ही से अपना संबंध रखा।

यहाँ पर यह कह देना उचित जँचता है कि कबीर सारत: वैष्णव थे। अपने आपको उन्होंने वैष्णव तो कहीं नहीं कहा है, परंतु वैष्णव की जितनी प्रशंसा की है, उससे उनकी वैष्णवता का बहुत पुष्ट प्रमाण मिलता है-

मेरे संगी द्वै जणा एक वैष्णव एक राम।
वो है दाता मुक्ति का वो सुमिरावै नाम॥
कबीर धनि ते सुंदरी जिनि जाया वैसनौं पूत।
राम सुमिरि निरभै हुआ सब जग गया अऊत॥
साकत बाभँण मति मिलै बेसनौं मिलै चँडाल।
अंकमाल दे भेंटिए मानौ मिलै गोपाल॥

शाक्तों की निंदा के लिए यह तत्परता उनकी वैष्णवता का ही फल है। शाक्त को उन्होंने कुत्ता तक कह डाला है-

साकत सुनहा दूनो भाई, एक नीदै एक भौंकत जाई।

जो कुछ संदेह उनकी वैष्णवता में रह जाता है, वह रामानंद जी को गुरु बनाने की उनकी आकुलता से दूर हो जाना चाहिए। अन्य वैष्णवों में और उनमें जो भेद दिखाई देता है उसका कारण, उनके सिद्धांत और व्यवहार में भेद न रखने का फल है।

कबीरदास के जीवन चरित्र के संबंध में तथ्य की बातें बहुत कम ज्ञात हैं, यहाँ तक कि उनके जन्म और मरण के संवतों के विषय में भी अब तक कोई निश्चित बातें नहीं ज्ञात हुई हैं। कबीरदास के विषय में कालनिर्णय लोगों ने जो कुछ लिखा है, सब जनश्रुति के आधार पर हैं। इनका समय भी अनुमान के आधार पर निश्चित किया गया है। डॉ. हंटर ने इनका जन्म संवत् 1437 में

और विल्सन साहब ने मृत्यु सं. 1505 में मानी है। रेवरेंड वेस्टकाट के अनुसार इनका जन्म 1497 में और मृत्यु संवत् 1575 में हुई। कबीरपंथियों में इनके जन्म के विषय में यह पद्य प्रसिद्ध है–

चौदह सौ पचपन साल भए, चन्द्रवार एक ठाठ ठए।
जेठ सुदी बरसायत को पूरनमासी तिथि प्रगट भए॥
घन गरजें दामिनि दमके बूँदे बरषें झर लाग गये।
लहर तलाब में कमल खिले तहँ कबीर भानु प्रगट भए॥

यह पद्य कबीरदास के प्रधान शिष्य और उत्तराधिकारी धर्मदास का कहा हुआ बताया जाता है। इसके अनुसार कबीरदास का जन्म लोगों ने संवत् 1455 ज्येष्ठ शुक्ल पूर्णिमा चन्द्रवार को माना है, परंतु गणना करने से संवत् 1455 में ज्येष्ठ शुक्ल पूर्णिमा चन्द्रवार को नहीं पड़ती। पद्य को ध्यान से पढ़ने पर संवत् 1456 निकलता है, क्योंकि उसमें स्पष्ट शब्दों में लिखा है 'चौदह सौ पचपन साल गये, अर्थात् उस समय तक संवत् 1455 बीत गया था।

ज्येष्ठ मास वर्ष के आरंभिक मासों में है, अतएव उसके लिए चौदह सौ पचपन साल गये लिखना स्वाभाविक भी है, क्योंकि वर्षारंभ में नवीन संवत् लिखने का उतना अभ्यास नहीं रहता। संवत् 1456 में ज्येष्ठ शुक्ल पूर्णिमा चन्द्रवार को ही पड़ती है। अतएव यही संवत् कबीर के जन्म का ठीक संवत् जान पड़ता है।

इनके निधन के संबंध में दो तिथियाँ प्रसिद्ध हैं–

1. संवत् पन्द्रह सौ और पाँच मौ मगहर कियो गमन।
अगहन सुदी एकादशी, मिले पवन में पवन॥
2. संवत् पन्द्रह सौ पछत्तरा, कियो मगहर को गवन।
माघ सुदी एकादशी, रलो पवन में पवन॥

एक के अनुसार इनका परलोकवास संवत् 1505 में और दूसरे के अनुसार 1575 में ठहरता है। दोनों तिथियों में 70 वर्ष का अंतर है। वार न दिए रहने के कारण ज्योतिष की गणना से तिथियों की जाँच नहीं की जा सकती।

डॉक्टर फ्यूर्र ने अपने 'मानुमेंटल एंटीक्विटीज ऑफ दि नार्थ-वेस्टर्न प्रोविंसेज' नामक ग्रंथ में लिखा है कि बस्ती जिले के मगहर ग्राम में, आमी नदी के दक्षिण तट पर, कबीरदास जी का रौजा है जिसे सन् 1450 (संवत् 1507) में बिजली खाँ ने बनवाया और जिसका जीर्णोद्धार सन् 1567 (संवत् 1624) में नवाब फिदाई खाँ ने कराया। यदि ये संवत् ठीक हैं तो कबीर की मृत्यु संवत्

1507 के पहले ही हो चुकी थी। इस बात को ध्यान में रखकर देखने से 1505 ही इनका निधन संवत् ठहरता है और इनका जन्म संवत् 1456 मान लेने से इनकी आयु केवल 49 वर्ष की ठहरती है। मेरा अनुमान था कि डॉक्टर फ्यूर्र ने मगहर के रौजे के बनने तथा जीर्णोद्धार के संवत् उसमें खुदे किसी शिलालेख के आधार पर दिए होंगे। इस अनुमान से मैं बहुत प्रसन्न था कि इस शिलालेख के आधार पर कबीर जी का समय निश्चित हो जायेगा, पर पूछताछ करने पर पता लगा कि वहाँ कोई शिलालेख नहीं है। डॉक्टर साहब ने जिस ढंग से संवत् दिए हैं, उससे तो यही जान पड़ता है कि उनके पास कोई आधार अवश्य था। परंतु जब तक उस आधार का पता नहीं लगता, तब तक मैं पुष्ट प्रमाणों के अभाव में इन संवतों को निश्चित मानने में असमर्थ हूँ। और भी कई बातें हैं जिनसे इन संवतों को अप्रामाणिक मानने को ही जी चाहता है। इन पर आगे विचार किया जाता है।

यह बात प्रसिद्ध है कि कबीरदास सिकंदर लोदी के समय में हुए थे और उसके कोप के कारण ही उन्हें काशी छोड़कर जाना पड़ा था। सिकंदर लोदी का राजत्व काल सन् 1517 (संवत् 1574) से सन् 1526 (संवत् 1583) तक माना जाता है। इस अवस्था में यदि कबीर का निधन संवत् 1505 मान लिया जाए तो उनका सिकंदर लोदी के समय में वर्तमान रहना असंभव सिद्ध होता है।

गुरु नानक देव जी ने कबीर की अनेक साखियों पर पदों को आदि-ग्रंथ में उद्धृत किया है गुरु नानक जी का जन्म संवत् 1526 में और मृत्यु संवत् 1596 में हुई रेवरंड वेस्टकाट लिखते हैं कि जब नानक 27 वर्ष के थे, तब कबीरदास जी से उनकी भेंट हुई थी। नानक देव जी पर कबीरदास का इतना स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है कि इस घटना को सत्य मानने की प्रवृत्ति होती है, जिससे कबीर का संवत् 1556 में वर्तमान रहना मानना पड़ता है। परंतु संवत् 1505 में कबीर की मृत्यु मानने से यह घटना असंभव हो जाती है।

जिन दो हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर इस ग्रंथावली का संपादन हुआ है, उनमें से एक संवत् 1561 की लिखी है। यदि कबीरदास की मृत्यु 1505 में हुई तो यह प्रतिलिपि उनकी मृत्यु के 56 वर्ष पीछे तैयार की गयी होगी। ऐसा प्रसिद्ध है कि कबीरदास जी के प्रधान शिष्य और उत्तराधिकारी धर्मदास जी ने संवत् 1521 में जब कि कबीरदास जी की आयु 65 वर्ष की थी, अपने गुरु के वचनों का संग्रह किया था। जिस ढंग से कबीरदास जी की वाणी का संग्रह इस प्रति में किया गया है उसे देखकर यह मानना पड़ेगा कि यह पहला संकलन

नहीं था, वरन् अन्य संकलनों के आधार पर पीछे से किया गया था, अथवा कोई आश्चर्य नहीं कि धर्मदास के संग्रह के ही आधार पर इसका संकलन किया गया हो।

टिप्पणी: ग्रंथसाहब में कबीरदास की बहुत-सी साखियाँ और पद दिए हैं। उनमें से बहुत से ऐसे हैं, जो सं. 1561 की हस्तलिखित प्रति में नहीं हैं। इससे यह मानना पड़ेगा कि या तो यह संवत् 1591 वाली प्रति अधूरी है अथवा इस प्रति के लिखे जाने के 100 वर्ष के अन्दर बहुत-सी साखियाँ आदि कबीरदास जी के नाम से प्रचलित हो गयी थीं, जो कि वास्तव में उनकी न थीं। यदि कबीरदास का निधन संवत् 1505 में मान लिया जाता है तो यह बात असंगत नहीं जान पड़ती कि इस प्रति के लिखे जाने के अनन्तर 14 वर्ष तक कबीरदास जी जीवित रहे हों और इस बीच में उन्होंने और बहुत से पद बनाए हों जो ग्रंथसाहब में सम्मिलित कर लिए गये हों।,

इस ग्रंथावली (पुस्तक संस्करण) में कबीरदास जी के दो चित्र दिए गये हैं-एक युवावस्था का और दूसरा वृद्धावस्था का। पहला चित्र कलकत्ता म्यूजियम से प्राप्त हुआ है और दूसरा मुझे कबीरपंथी स्वामी युगलानंद जी से मिला है। मिलान कराने से दोनों चित्र एक ही व्यक्ति के नहीं मालूम पड़ते, दोनों की आकृतियों में बड़ा अंतर है। यदि दोनों नहीं तो इनमें से कोई एक अवश्य अप्रमाणिक होगा, दोनों ही अप्रमाणिक हो सकते हैं, परंतु श्रीयुत युगलानंदजी वृद्धावस्था वाले चित्र के लिए अत्यंत प्रमाणिकता का दावा करते हैं, जो 49 वर्ष से अधिक अवस्था वाले व्यक्ति का ही हो सकता है। नहीं कह सकते कि यह दावा कहाँ तक साधार और सत्य है, परंतु यह ठीक है तो मानना पड़ेगा कि कबीरदास जी की मृत्यु 1505 के बहुत पीछे हुई।

इन सब बातों पर एक साथ विचार करने से यही संभव जान पड़ता है कि कबीरदास जी का जन्म 1456 में और मृत्यु संवत् 1575 में हुई होगी। इस हिसाब से उनकी आयु 119 वर्ष की होती है, जिस पर बहुत लोगों को विश्वास करने की प्रवृत्ति न होगी, परंतु जो इस युग में भी असंभव नहीं हैं।

माता-पिता

यह कहा जा चुका है कि कबीरदास जी के जीवन की घटनाओं के संबंध में कोई निश्चित बात ज्ञात नहीं होती, क्योंकि उन सबका आधार जनसाधारण और विशेषकर कबीरपंथियों में प्रचलित दंतकथाएँ हैं। कहते हैं कि काशी में एक

सात्विक ब्राह्मण रहते थे, जो स्वामी रामानंद जी के बड़े भक्त थे। उनकी एक विधवा कन्या थी। उसे साथ लेकर एक दिन वे स्वामी जी के आश्रम पर गये। प्रणाम करने पर स्वामी जी ने उसे पुत्रवती होने का आशीर्वाद दिया। ब्राह्मण देवता ने चौंककर जब पुत्री का वैधव्य निवेदन किया तब स्वामी जी ने सखेद कहा कि मेरा वचन तो अन्यथा नहीं हो सकता है, परंतु इतने से संतोष करो कि इससे उत्पन्न पुत्र बड़ा प्रतापी होगा।

आशीर्वाद के फलस्वरूप जब इस ब्राह्मण कन्या को पुत्र उत्पन्न हुआ तो लोक-लज्जा और लोकापवाद के भय से उसने उसे लहर तालाब के किनारे डाल दिया। भाग्यवश कुछ ही क्षण के पश्चात् नीरू नाम का एक जुलाहा अपनी स्त्री नीमा के साथ उधर से आ निकला। इस दम्पति के कोई पुत्र न था। बालक का रूप पुत्र के लिए लालायित दम्पति के हृदय में चुभ गया और वे इसी बालक का भरण-पोषण कर पुत्र वाले हुए। आगे चलकर यही बालक परम भगवद्भक्त कबीर हुआ।

ग्रंथसाहब में कबीरदास का एक पद दिया गया है जिसमें कबीरदास कहते हैं- 'पहले दर्शन मगहर पायो पुनि काशी बसे आयी।' एक-दूसरे पद में कबीरदास कहते हैं- 'तोरे भरोसे मगहर बसियो मेरे मन की तपन बुझाई।' यह तो प्रसिद्ध ही है कि कबीरदास अंत में मगहर में जाकर बसे और वहीं उनका परलोकवास हुआ। पर 'पहले दर्शन मगहर पायो पुनि काशी बसे आयी' से तो यह ध्वनि निकलती है कि उनका जन्म ही मगहर में हुआ था और फिर ये काशी में आकर बस गये और अंत में फिर मगहर में जाकर परलोक सिधारे।

कुछ लोग कबीर को नीरू और नीमा का औरस पुत्र मानते हैं, परंतु इस मत के पक्ष में कोई साधार प्रमाण अब तक किसी ने नहीं दिया। स्वयं कबीर की एक उक्ति हम ऊपर दे चुके हैं जिसमें उनका जन्म से मुसलमान न होना प्रकट होता है, परंतु 'जौ रे खुदाई तुरक मोहि करता आपै कटि किन जाई' से यह ध्वनित होता है कि वे मुसलमान माता-पिता की संतति थे। सब बातों पर विचार करने से इसी मत के ठीक होने की अधिक संभावना है कि कबीर ब्राह्मणी या किसी हिंदू स्त्री के गर्भ से उत्पन्न और मुसलमान परिवार में लालित-पालित हुए थे। कदाचित् उनका बालकपन मगहर में बीता हो और पीछे से आकर काशी में बसे हों, जहाँ से अंतकाल के कुछ पूर्व उन्हें पुनः मगहर में जाना पड़ा हो।

गुरु

किंवदंती है कि जब कबीर भजन गा-गा कर उपदेश देने लगे तब उन्हें पता चला कि बिना किसी गुरु से दीक्षा लिये हमारे उपदेश मान्य नहीं होंगे क्योंकि लोग उन्हें 'निगुरा' कहकर चिढ़ाते थे। लोगों का कहना था कि जिसने किसी गुरु से उपदेश नहीं ग्रहण किया, वह औरों को क्या उपदेश देगा! अतएव कबीर को किसी को गुरु बनाने की चिंता हुई। कहते हैं, उस समय स्वामी रामानंद जी काशी में सबसे प्रसिद्ध महात्मा थे। अतएव कबीर उन्हीं की सेवा में पहुँचे। परंतु उन्होंने कबीर के मुसलमान होने के कारण उनको अपना शिष्य बनाना स्वीकार नहीं किया। इस पर कबीर ने एक चाल चली, जो अपना काम कर गयी। रामानंद जी पंचगंगा घाट पर नित्य प्रति प्रातःकाल ब्रह्ममुहूर्त में ही स्नान करने जाया करते थे उस घाट की सीढ़ियों पर कबीर पहले से ही जाकर लेट रहे। स्वामीजी जब स्नान करके लौटे तो उन्होंने अँधेरे में इन्हें न देखा, उनका पाँव इनके सिर पर पड़ गया जिस पर स्वामीजी के मुँह से 'राम राम' निकल पड़ा। कबीर ने चट उठकर उनके पैर पकड़ लिये और कहा कि आप राम राम का मंत्र देकर आज मेरे गुरु हुए हैं। रामानंद जी से कोई उत्तर देते न बना। तभी से कबीर ने अपने को रामानंद का शिष्य प्रसिद्ध कर दिया।

'कासी में हम प्रकट भये हैं रामानंद चेताए' कबीर का यह वाक्य इस बात के प्रमाण में प्रस्तुत करता है कि रामानंद जी उनके गुरु थे। जिन प्रतियों के आधार पर इस ग्रंथावली का संपादन किया गया है उसमें यह वाक्य नहीं है और न ग्रंथसाहब ही में यह मिलता है। अतएव इसको प्रमाण मानकर इसके आधार पर कोई मत स्थिर करना उचित नहीं जँचता। केवल किंवदंती के आधार पर रामानंद जी को उनका गुरु मान लेना ठीक नहीं। यह किंवदंती भी ऐतिहासिक जाँच के सामने ठीक नहीं ठहरती। रामानंद जी की मृत्यु अधिक से अधिक देर में मानने से संवत् 1467 में हुई, इससे 14 या 15 वर्ष पहले भी उनके होने का प्रमाण विद्यमान है। उस समय कबीर की अवस्था 11 वर्ष की रही होगी, क्योंकि हम ऊपर उनका जन्म संवत् 1456 सिद्ध कर आये हैं। 11 वर्ष के बालक का घूम-फिरकर उपदेश देने लगना सहसा ग्राह्य नहीं होता और यदि रामानंद जी की मृत्यु संवत् 1453 के लगभग हुई तो यह किंवदंती झूठ ठहरती है, क्योंकि उस समय तो कबीर को संसार में आने के लिए अभी तीन-चार वर्ष रहे होंगे।

पर जब तक कोई विरुद्ध दृढ़ प्रमाण नहीं मिलते, तब तक हम इस लोक-प्रसिद्ध बात को कि रामानंद जी कबीर के गुरु थे, बिल्कुल असत्य भी

नहीं ठहरा सकते। हो सकता है कि बाल्यकाल में बार-बार रामानंद जी के साक्षात्कार तथा उपदेश-श्रवण से ('गुरु के सबद मेरा मन लागा') अथवा दूसरों के मुँह से उनके गुण तथा उपदेश सुनने में बालक कबीर के चित्त पर गहरा प्रभाव पड़ गया हो जिसके कारण उन्होंने आगे चलकर उन्हें अपना मानस गुरु मान लिया हो। कबीर मुसलमान माता-पिता की संतति हों चाहे नहीं किंतु मुसलमान के घर में लालित-पालित होने पर भी उनका हिंदू विचारधारा में आप्लावित होना उन पर बाल्यकाल ही से किसी प्रभावशाली हिंदू का प्रभाव होना प्रदर्शित करता है-

'हम भी पाहन पूजते होते बन के रोझ।
सतगुरु की किरपा भई सिर तैं उतरय्या बोझ॥'

अपने गुरु रामानंद से प्रभावित होने से पहले कबीर पर हिंदू प्रभाव पड़ चुका था जिससे वे मुसलमान कुल में परिपालित होने पर भी 'पाहन' पूजने वाले हो गये थे। कबीर लोगों के कहने से कोई काम करने वाले नहीं थे। उन्होंने अपना सारा जीवन ही अपने समय के अंधविश्वासों के विरुद्ध लगा दिया था। यदि स्वयं उनका हार्दिक विश्वास न होता कि गुरु बनाना आवश्यक है, तो वे किसी के कहने की परवा न करते। किंतु उन्होंने स्वयं कहा है-

'गुरु बिन चेला ज्ञान न लहै।'
'गुरु बिन इह जग कौन भरोसा, करके संग ह्वै रहिए।'

परंतु वे गुरु और शिष्य का शारीरिक साक्षात्कार आवश्यक नहीं समझते थे। उनका विश्वास था कि गुरु के साथ मानसिक साक्षात्कार से भी शिष्यत्व का निर्वाह हो सकता है-

'कबीर गुरु बसै बनारसी सिष समंदर तीर।
बिसर्ध्या नहीं बींसरे जे गुण होई सरीर॥'

कबीर अपने आप में शिष्य के लिए आवश्यक गुणों का अभाव नहीं समझते थे। वे उन एक आध में से थे, जो गुरुज्ञान से अपना उद्धार कर सकते थे, जिनके संबंध में कबीर ने कहा है-

'माया दीपक नर पतंग, भ्रमि भ्रमि इवै पड़ंत।
कहै कबीर गुरु ज्ञान थैं, एक आध उबरंत॥'

मुसलमान कबीरपंथियों का कहना है कि कबीर ने सूफी फकीर शेख तकी से दीक्षा ली थी। कबीर ने अपने गुरु के बनारस निवासी होने का स्पष्ट उल्लेख किया है। इस कारण ऊँजी के पीर और तकी उनके गुरु नहीं हो सकते।

'घट घट है अविनासी सुनहु तकी तुम शेख' में उन्होंने तकी का नाम उस आदर से नहीं लिया है जिस आदर से गुरु का नाम लिया जाता है और जिसके प्रभाव से कबीर ने असंभव का भी संभव होना लिखा है–

'गुरु प्रसाद सूई कै नोकैं हस्ती आवै जाहि॥'

बल्कि उल्टे वे तो तकी को ही उपदेश देते जान पड़ते हैं। यद्यपि यह वाक्य इस ग्रंथावली में कहीं नहीं मिलता फिर भी स्थान–स्थान पर 'शेख' शब्द का प्रयोग मिलता है, जो विशेष आदर से नहीं लिया गया है वरन् जिसमें फटकार की मात्रा ही अधिक देख पड़ती है, अतः तकी कबीर के गुरु तो हो ही नहीं सकते, हाँ यह हो सकता है कि कबीर कुछ समय तक उनके सत्संग में रहे हों, जैसा कि नीचे लिखे वचनों से भी प्रकट होता है। पर यह स्वयं कबीर के वचन हैं, इसमें भी संदेह है–

'मानिकपुरहिं कबीर बसेरी। मदहति सुनि शेख तकि केरी।
ऊजी सुनी जौनपुर थाना। झूँसी सुनि पीरन के नामा॥'

परंतु इसके अनन्तर भी वे जीवन पर्यंत राम नाम रटते रहे, जो स्पष्टतः रामानंद के प्रभाव का सूचक है, अतएव स्वामी रामानंद को कबीर का गुरु मानने में कोई अड़चन नहीं है, चाहे उन्होंने स्वयं उन्हीं से मंत्र ग्रहण किया हो अथवा उन्हें अपना मानस गुरु बनाया हो। उन्होंने किसी मुसलमान फकीर को अपना गुरु बनाया हो इसका कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता।

शिष्य

धर्मदास और सुरतगोपाल नाम के कबीर के दो चेले हुए। धर्मदास बनिए थे। उनके विषय में लोग कहते हैं कि वे पहले मूर्तिपूजक थे, उनका कबीर से पहले पहल काशी में साक्षात्कार हुआ था। उस समय कबीर ने उन्हें मूर्तिपूजक होने के कारण खूब फटकारा था। फिर वृंदावन में दोनों की भेंट हुई। उस समय उन्होंने कबीर को पहचाना नहीं, पर बोले– 'तुम्हारे उपदेश ठीक वैसे हैं जैसे एक साधु ने मुझे काशी में दिए थे। ' इस समय कबीर ने उनकी मूर्ति को, जिसे वे पूजा के लिए सदैव अपने साथ रखते थे, जमुना में डाल दिया। तीसरी बार कबीर स्वयं उनके घर बाँधोगढ़ पहुँचे। वहाँ उन्होंने उनसे कहा कि तुम उसी पत्थर की मूर्ति पूजते हो, जिसके तुम्हारे तौलने के बाट हैं। उनके दिल में यह बात बैठ गयी और ये कबीर के शिष्य हो गये। कबीर की मृत्यु के बाद धर्मदास ने छत्तीसगढ़ में कबीरपंथ की एक अलग शाखा चलाई और सुखगोपाल काशी

वाली शाखा की गद्दी के अधिकारी हुए। धीरे-धीरे दोनों शाखाओं में बहुत भेद हो गया।

कबीर कर्मकांड को पाखंड समझते थे और उसके विरोधी थे, परंतु आगे चलकर कबीरपंथ में कर्मकांड की प्रधानता हो गयी। कंठी और जनेऊ कबीरपंथ में भी चल पड़े। दीक्षा से मृत्यु पर्यंत कबीरपंथियों को कर्मकांड की कई क्रियाओं का अनुसरण करना पड़ता है। इतनी बात अवश्य है कि कबीरपंथ में जात-पाँत का कोई भेद नहीं है हिंदू-मुसलमान दोनों धर्म के लोग उसमें सम्मिलित हो सकते हैं। परंतु ध्यान रखने की बात यह है कि कबीरपंथ में जाकर भी हिंदू-मुसलमान का भेद नहीं मिट जाता। हिंदू धर्म का प्रभाव इतना व्यापक है कि उससे अलग होने पर भी भारतीय नये-नये मत अंत में उसके प्रभाव से नहीं बच सकते।

गृहस्थ जीवन

कबीर के साथ प्राय: लोई का भी नाम लिया जाता है। कुछ लोग कहते हैं कि यह कबीर की शिष्या थी और आजन्म उनके साथ रही! अन्य इसे उनकी परिणीता स्त्री बताते हैं और कहते हैं कि इसके गर्भ से कबीर को कमाल नाम का पुत्र और कमाली नाम की पुत्री हुई थी। कबीर ने लोई को संबोधन करके कई पद कहे हैं। एक पद में वे कहते हैं-रे यामें क्या मेरा क्या तेरा, लाज न मरहिं कहत घर मेरा।

कहत कबीर सुनहु रे लोई, हम तुम विनसि रहेगा सोई।

इसमें लोई और कबीर का एक घर होना कहा गया है। जिससे लोई को कबीर की स्त्री होना ही अधिक संभव जान पड़ता है। कबीर ने कामिनी की बहुत निंदा की है। संभवत: इसीलिए लोई के संबंध में उनकी पत्नी के स्थान में शिष्या होने की कल्पना की गयी है-

'नारि नसावै तीनि सुख, जो नर पासै होइ।
भगति मुकति निज ज्ञान में, पैसि न सकई कोइ॥
एक कनक अरु कामिनी, विष फल कीएउ पाइ।
देखे ही थे विष चढ़े, खाए सूँ मरि जाइ॥'

परंतु कामिनी कांचन की निंदा के उनके वाक्य वैराग्यावस्था के समझने चाहिए। यह अधिक संगत जान पड़ता है कि लोई कबीर की पत्नी थी जो कबीर के विरक्त होकर नवीन पंथ चलाने पर उनकी अनुगामिनी हो गयी। कहते हैं कि

लोई एक बनखण्डी वैरागी की परिपालिता कन्या थी। वह लोई उस वैरागी को स्नान करते समय लोई में लपेटी और टोकरी में रखी हुई गंगा जी में बहती हुई मिली थी। लोई में लपेटी हुई मिलने के कारण ही उसका नाम लोई पड़ा। बनखण्डी वैरागी की मृत्यु के बाद एक दिन कबीर उनकी कुटिया में गये। वहाँ अन्य संतों के साथ उन्हें भी दूध पीने को दिया गया, औरों ने तो दूध पी लिया, पर कबीर ने अपने हिस्से का रख छोड़ा। पूछने पर उन्होंने कहा कि गंगा पार एक साधु आ रहे हैं, उन्हीं के लिए रख छोड़ा है। थोड़ी देर में सचमुच एक साधु आ पहुँचा जिससे अन्य साधु कबीर की सिद्धई पर आश्चर्य करने लगे। उसी दिन से लोई उनके साथ हो ली।

कबीर की संतति के विषय में तो कोई प्रमाण नहीं मिलता। कहते हैं कि उनका पुत्र कमाल उनके सिद्धान्तों का विरोधी था। इसी से कबीर ने कहा–

'डूबा वंश कबीर का उपजा पूत कमाल।
हरि का सुमिरन छाँड़ि के, घर ले आया माल।'

इस दोहे के भी कबीर कृत होने में संदेह ही है। परंतु कमाल के कई पद ग्रंथसाहब में सम्मिलित किए गये हैं।

अलौकिक कृत्य

कबीर के विषय में कई आश्चर्यजनक कथाएँ प्रसिद्ध हैं जिनसे उनमें लोकोत्तर शक्तियों का होना सिद्ध किया जाता है। महात्माओं के विषय में प्रायः ऐसी कल्पनाएँ की ही जाती हैं यद्यपि इस युग में इस प्रकार की बातों पर शिक्षित और समझदार लोग विश्वास नहीं करते, परंतु फिर भी महात्मा गाँधी के विषय में भी असहयोग के समय में ऐसी कई गप्पें उड़ी थीं। अतएव हम उन सबका उल्लेख मात्र करके व्यर्थ इस प्रस्तावना का कलेवर बढ़ाना उचित नहीं समझते। यहाँ एक ही कथा दे देना पर्याप्त होगा, जिसके लिए कुछ स्पष्ट आधार है।

कहते हैं कि एक बार सिकंदर लोदी के दरबार में कबीर पर अपने आपको ईश्वर कहने का अभियोग लगाया गया। काजी ने उन्हें काफिर बताया और उनको मंसूर हल्लाज की भाँति मृत्युदण्ड की आज्ञा हुई। बेड़ियों से जकड़े हुए कबीर नदी में फेंक दिए गये। परंतु जिन कबीर को माया–मोह की शृंखला न बाँध सकती थी, जिनकी पाप की बेड़ियाँ कट चुकी थीं उन्हें यह जंजीर बाँधे न रख सकी और वे तैरते हुए नदी तट पर आ खड़े हुए। अब काजी ने उन्हें धधकते हुए अग्निकुण्ड में डलवाया, किंतु उनके प्रभाव से आग बुझ गयी और कबीर

की दिव्य देह पर आँच तक न आयी। उनके शरीर नाश के इस उद्योग के भी निष्फल हो जाने पर उन पर एक मस्त हाथी छोड़ा गया। उनके पास पहुँचकर हाथी उन्हें नमस्कार कर चिघाड़ता हुआ भाग खड़ा हुआ। इसका आधार कबीर का यह पद कहा जाता है–

अहो मेरे गोव्यंद तुम्हारा जोर, काजी बकिवा हस्ती तोर।
बाँधि भुजा भले करि डारौं, हस्ती कोपि सूँड मैं मारौं।।
भाग्यो हस्ती चीसा मारी, वा मूरति की मैं बलिहारी।
महावत तोकूँ मारी साँटी, इसही मराउँ धालौं काटी।।
हस्ती न तोरै धरे ध्रियान, वाकै हिरदे बसै भगवान।
कहा अपराध संत हौं कीन्हाँ, बाँधि पोट कुंजर कू दीन्हा।।
कुंजर पोट बहु बंदन करै, अँगहुँ न सूझै काजी अँधरै।
तीनि बेर पतियारा लीन्हा, मन कठोर अजहूँ न पतीनाँ।।
कहै कबीर हमारे गोव्यंद, चौथे पद भै जन को गयंद।'

परंतु यह पद प्राचीन प्रतियों में नहीं मिलता। यदि यह कबीर जी का ही कहा हुआ है तो इस पद से केवल यह प्रकट होता है कि उनको मारने के तीनों प्रयत्न हाथी के द्वारा किए गये थे, क्योंकि इसमें उनके नदी में फेंके जाने या आग में जलाए जाने का कोई उल्लेख नहीं है। ग्रंथसाहब में कबीर जी का यह पद भी मिलता है, जो गंगा में जंजीर से बाँधकर फेंके जाने वाली कथा से संबंध रखता है–

'गंगा गुसाइन गहिर गँभीर। जंजीर बाँध करि खरे कबीर।
गंगा की लहरि मेरी टूटी जंजीर। मृगछाला पर बैठे कबीर।।'

मृत्यु

कबीर का जीवन अंधविश्वासों का विरोध करने में ही बीता था। अपनी मृत्यु से भी उन्होंने इसी उद्देश्य की पूर्ति की। काशी मोक्षदापुरी कही जाती है। मुक्ति की कामना से लोग काशीवास करके यहाँ तन त्यागते हैं और मगहर में मरने का अनिवार्य परिणाम या फल नरकगमन माना जाता है। यह अंधविश्वास अब तक चला आता है। कहते हैं कि इसी के विरोध में कबीर मरने के लिए काशी छोड़कर मगहर चले गये थे। वे अपनी भक्ति के कारण ही अपने आपको मुक्ति का अधिकारी समझते थे। उन्होंने कहा भी है–

'जो काशी तन तजै कबीरा तौ रामहिं कहा निहोरा रे। '

इस अंधविश्वास का उन्होंने जगह-जगह खंडन किया है-

(क) 'हिरदै कठोर मरो बनारसी नरक न बंच्या जाई।
हरि को दास मरै जो मगहर सेन्या सकल तिहाई।'

(ख) 'जस कासी तस मगहर ऊसर हृदय रामसति होई। '

आदि ग्रंथ में उनका नीचे लिखा पद मिलता है-

'ज्यों जल छाड़ि बाहर भयो मीना। पूरब जनम हौं तप का हीना।।
अब कहु राम कवन गति मोरी। तजिले बनारस मति भइ थोरी।।
बहुत बरष तप कीया कासी। मरनु भया मगहर को बासी।।
कासी मगहर सम बीचारी। ओछी भगति कैसे उतरसि पारी।।
कहु गुर गति सिव संभु को जानै। मुआ कबीर रमता श्री रामै।।'

कबीर के ये वचन मरने के कुछ ही समय पहले के जान पड़ते हैं। आरंभिक चरणों में जो क्षोभ प्रकट किया है, वह इसलिए कि बनारस उनका जन्मस्थान था, जो सभी को अत्यंत प्रिय होता है। बनारस के साथ वे अपना संबंध वैसा ही घनिष्ठ बतलाते हैं जैसा जल और मछली का होता है। काशी और मगहर को वे अब भी समान समझते थे। अपनी मुक्ति के संबंध में उन्हें तनिक भी संदेह नहीं था, क्योंकि उन्हें परमात्मा की सर्वज्ञता में अटल विश्वास था, 'शिव सम को जनै' और राम का नाम जाप करते-करते वे शरीर त्यागने जा रहे थे 'मुआ कबीर रमत श्री राम।'

उनकी अन्त्येष्टि क्रिया के विषय में एक बहुत ही विलक्षण प्रवाद प्रसिद्ध है। कहते हैं हिंदू उनके शव का अग्नि-संस्कार करना चाहते थे और मुसलमान उसे कब्र में गाड़ना चाहते थे। झगड़ा यहाँ तक बढ़ा कि तलवारें चलने की नौबत आ गयी। पर हिंदू-मुसलिम ऐक्य की प्रयासी कबीर की आत्मा यह बात कब सहन कर सकती थी। आत्मा ने आकाशवाणी की 'लड़ो मत! कफन उठाकर देखो। ' लोगों ने कफन उठाकर देखा तो शव के स्थान पर एक पुष्प राशि पाई गयी, जिसको हिंदू-मुसलमान दोनों ने आधा-आधा बाँट लिया। अपने हिस्से के फूलों को हिन्दुओं ने जलाया और उनकी राख को काशी ले जाकर समाधिस्थ किया। वह स्थान अब तक कबीरचौरा के नाम से प्रसिद्ध है। अपने हिस्से के फूलों के ऊपर मुसलमानों ने मगहर ही में कब्र बनाई। यह कहानी भी विश्वास करने योग्य नहीं है, परंतु इसका मूल भाव अमूल्य है।

तात्विक सिद्धांत

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, कबीर ने चाहे जिस प्रकार हो रामानंद से रामनाम की दीक्षा ली थी, परंतु कबीर के राम, रामानंद के राम से भिन्न थे। वे 'दुष्टदलन रघुनाथ' नहीं थे जिनके सेवक 'अंजनिपुत्र महाबलदायक, साधु-संत पर सदा सहायक' थे। राम से उनका अभिप्राय कुछ और ही था-

'दशरथ सुत तिहुँ लोक बखाना। राम नाम का मरम है आना।।'

राम से उनका तात्पर्य निर्गुण ब्रह्म से है। उन्होंने 'निरगुण राम निरगुण राम जपहु रे भाई' का उपदेश दिया है। उनकी राम-भावना भारतीय ब्रह्म भावना से सर्वथा मिलती है। जैसा कि कुछ लोग भ्रमवश समझते हैं, वे ब्रह्मार्थवाद मूलक मुसलमानी एकेश्वरवाद या खुदावाद के समर्थक नहीं थे। निर्गुण भावना भी उनके लिए स्थूल भावना है, जो मूर्तिपूजकों की सगुण भावना के विरोधीपक्ष का प्रदर्शन मात्र करती है। उनकी भावना इससे भी अधिक सूक्ष्म है। वे राम को सगुण और निर्गुण दोनों समझते हैं-

'अला एकै नूर उपनाया ताकी कैसी निंदा।
ता नूर थै जग कीया कौन भला कौन मंदा।।'

यह मुसलमानों की ही तर्कशैली का आश्रय लेकर 'खुदा के बन्दों' और काफिरों की एकता प्रतिपादन करने के लिए कहा जान पड़ता है, मुसलमानी मत के समर्थन में नहीं, क्योंकि उन्होंने स्वयं कहा है-

'खालिक खलक, खलक में खालिक सब घट रह्यो समाई। '
जो भारतीय ब्रह्म भावना के ही परम अनुकूल है।

कबीर केवल शब्दों को लेकर झगड़ा करने वाले नहीं थे। अपने भाव व्यक्त करने के लिए उन्होंने उर्दू, फारसी, संस्कृत आदि सभी शब्दों का उपयोग किया है। अपने भाव प्रकट करने भर से उन्होंने मतलब रखा है। शब्दों के लिए वे विशेष चिन्तित नहीं दिखाई देते। ब्रह्म के लिए, राम, रहीम, अल्ला, सत्यनाम, गोब्यन्द, साहब, आप आदि अनेक शब्दों को उन्होंने प्रयोग किया है। उन्होंने कहा भी है 'अपरम्पार का नाउँ अनन्त।' ब्रह्म के निरुपण के लिए शब्दों के प्रयोग में अत्यंत शुद्धता और सावधानी बहुत आवश्यक है, कबीर में उसे पाने की आशा करना व्यर्थ है, क्योंकि कबीर का तत्त्वज्ञान दार्शनिक ग्रंथों के अध्ययन का फल नहीं है, वह उनकी अनुभूति और सारग्राहिता का प्रसाद है। पढ़े-लिखे तो वे थे ही नहीं, उन्होंने जो कुछ ज्ञान संचय किया, वह सब सत्संग और आत्मानुभव से

था। हिंदू-मुसलमान सभी संत फकीरों का इन्होंने समागम किया था, अतएव हिंदू भावों के साथ इनमें मुसलमानी भाव भी पाए जाते हैं। यद्यपि इनकी रचनाओं में भारतीय ब्रह्मवाद का पूरा-पूरा ढाँचा पाया जाता है, तथापि उसकी प्रायः वे ही बातें इन्होंने अधिक विस्तृत रूप से वर्णन के लिए उठाई हैं, जो मुसलमानी एकेश्वरवाद के अधिक मेल में थीं। इनका ध्येय सर्वदा हिंदू-मुस्लिम ऐक्य रहा है, यह भी इसका एक कारण है।

स्थूल दृष्टि से तो मूर्तिद्रोही एकेश्वरवाद और मूर्तिपूजक बहुदेववाद में बहुत बड़ा अंतर है, परंतु यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाए तो उनमें उतना अंतर नहीं देख पड़ेगा, जितना एकेश्वरवाद और ब्रह्मवाद में है, वरन् सारतः वे दोनों एक ही हैं, क्योंकि बहुत से देवी-देवताओं को अलग-अलग मानना और सबके गुरु गोवर्धनदास एक ईश्वर को मानना एक ही बात है। परंतु ब्रह्मवाद का मूलाधार ही भिन्न है। उसमें लेशमात्र भी भौतिकवाद नहीं है वह जीवात्मा, परमात्मा और जड़ जगत् तीनों की भिन्न सत्ता मानता है, जब कि ब्रह्मवाद शुद्ध आत्मतत्त्व अर्थात् चैतन्य के अतिरिक्त और किसी का अस्तित्त्व नहीं मानता। उसके अनुसार आत्मा भी परमात्मा ही है, जड़ जगत् भी ब्रह्म है। कबीर में भौतिक या बाह्यार्थवाद कहीं मिलता ही नहीं और आत्मवाद की उन्होंने स्थान-स्थान पर अच्छी झलक दिखाई है।

ब्रह्म ही जगत् में एकमात्र सत्ता है, इसके अतिरिक्त संसार में और कुछ नहीं है। जो कुछ है, ब्रह्म ही है। ब्रह्म ही से सबकी उत्पत्ति होती है और फिर उसी में सब लीन हो जाते हैं। कबीर के शब्दों में-

'पाणी ही ते हिम भया, हिम ह्वै गया बिलाइ।
जो कुछ था सोई भया, अब कुछ कहा न जाइ॥'

विश्व विस्तृत सृष्टि और ब्रह्म का संबंध दिखाने के लिए ब्रह्मवादी दो उदाहरण दिया करते हैं। जिस प्रकार एक छोटे से बीज के अन्दर वट का बृहदाकार वृक्ष अंतर्हित रहता है उसी प्रकार यह सृष्टि भी ब्रह्म में अंतर्हित रहती है, और जिस प्रकार दूध में घी व्याप्त रहता है उसी प्रकार ब्रह्म भी इस अंडकटाह में सर्वत्र व्याप्त रहता है। कबीर ने इसे इस तरह कहा है-

'खालिक खलक, खलक में खालिक सब जग रह्यो समाई। '

सर्वव्यापि ब्रह्म जब अपनी लीला का विस्तार करता है तब इस नामरूपात्मक जगत् की सृष्टि होती है, जिसे वह इच्छा होने पर अपने ही में समेट लेता है-

'इन मैं आप आप सबहिन में आप आप सूँ खेलै।
नाना भाँति घड़े सब भाँड़े रूप धरे धरि मेलै॥'

वेदान्त में नाम-रूपात्मक जगत् से ब्रह्म का संबंध और कई प्रकार से प्रकट किया जाता है, जिनमें से एक प्रतिबिम्बवाद है जिसका कबीर ने भी सहारा लिया है। प्रतिबिम्बवाद के अनुसार ब्रह्म बिम्ब है और नाम रूपात्मक दृश्य जगत् उसका प्रतिबिम्ब है। कबीर कहते हैं-

'खण्डित मूल बिनास कहौ किम बिगतह कीजै।
ज्यूँ जल मैं प्रतिव्यंब, त्यूँ सकल रामहिं जाणीजै॥'

'जो पिण्ड में है वही ब्रह्माण्ड में है' कहकर भी ब्रह्म का निरुपण किया जाता है परंतु केवल वाक्य के आश्रय से बनने वाले ज्ञानियों को इससे भ्रम हो सकता है कि पिण्ड और ब्रह्माण्ड, ब्रह्म की अवस्थिति के लिए आवश्यक है। ऐसे लोगों के लिए कबीर कहते हैं-

'प्यंड ब्रह्मंड कथै सब कोई, वाकै आदि अरु अंत न होई।
प्यंड ब्रह्मांड छाड़ि जे कथिऐ, कहै कबीर हरि सोई॥'

वेदान्त के 'कनककुण्डलन्याय' के अनुसार जिस प्रकार सोने के कुण्डल बनता है और उस कुण्डल के टूटने अथवा पिघल जाने पर वह सोना ही रहता है, उसी प्रकार नाम-रूपात्मक दृश्यों की उत्पत्ति ब्रह्म से होती है और ब्रह्म ही में वे समा जाते हैं-

'जैसे बहु कंचन के भूषन ये कहि गालि तवावहिंगे।
ऐसे हम लोक वेद के बिछुरे सुन्निहि माँहि समावेहिंगे॥'

इसी प्रकार का जलतरंग न्याय भी है-

'जैसे जलहि तरंग तरंगनी ऐसे हम दिखलावहिंगे।
कहै कबीर स्वामी सुखसागर हंसहिं हंस मिलावेहिंगे॥'

एक और तरह से कबीर ने भारतीय पद्धति से यह संबंध प्रदर्शित किया है-

'जल मैं कुंभ कुंभ मैं जल है, बाहरि भीतरि पानी।
फूटा कुंभ जल जलहि समानां, यह तत कथौ गियानी॥'

यह नाम-रूपात्मक दृश्य जो चर्म चक्षुओं को दिखाई देता है, जल में का घड़ा है जिसके बाहर भी ब्रह्म रूप वारि है और अन्दर भी। बाह्य रूप का नाश हो जाने पर घड़े के अन्दर का जल जिस प्रकार बाहर वाले जल में मिल जाता

है उसी प्रकार ब्रह्म रूप के अभ्यंतर का ब्रह्म भी अपने बाह्यस्थ ब्रह्म में समा जाता है।

सब प्रकार से यही सिद्ध किया गया है कि परिवर्तनशील नाशवान् दृश्यों का अध्यारोप जिस एक अव्यय तत्त्व पर होता है, वही वास्तव है। जो कुछ दिखाई देता है, वह असत्य है, केवल मायात्मक भ्रांति ज्ञान है। यह बात कबीर ने स्पष्ट ही कह दी है–

'संसार ऐसा सुपिन जैसा जीव न सुपिन समान। '

जो मनुष्य माया के इस प्रसार को सच्चा समझकर उसमें लिपट जाता है उसे शुद्ध हंस स्वरूप जीव अर्थात् ब्रह्म की प्राप्ति नहीं हो सकती।

बुद्धदेव के 'दुःख का सत्य' सिद्धांत के समान ही कबीर का भी सिद्धांत है कि यह संसार दुःख ही का घर है–

'दुनियाँ भाँड़ा दुःख का भरी मुँहामुँह मूष।
अदयां अलह राम की कुरहै उँणी कूष।।'

संसार का यह दुःख मायाकृत है परंतु जो लोग माया में लिपटे रहते हैं वे इस दुःख में पड़े हुए भी उसे समझ नहीं सकते। इस दुःख का ज्ञान उन्हीं को हो सकता है जिन्होंने मायात्मक अज्ञानावरण हटा दिया है। माया में पड़े हुए लोग तो इस दुःख को सुख ही समझते हैं–

'सुखिया सब संसार है, खावै अरु सोवै।
दुखिया दास कबीर है जागै अरु रोवै।।'

कबीर का दुःख अपने लिए नहीं है, वे अपने लिए नहीं रोते, संसार के लिए रोते हैं क्योंकि उन्होंने साईं के सब जीवों के लिए अपना अस्तित्त्व समर्पित कर दिया था, संसार के लिए ईसा मसीह की तरह उन्होंने अपने आपको मिटा दिया था।

माया में पड़ा हुआ मनुष्य अपनी ही बात सोचता रहता है, इसी से वह परमात्मा को नहीं पा सकता। परमात्मा को पाने के लिए इस 'ममता' को छोड़ना पड़ता है–

'जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाहिं।'

इसीलिए ज्ञानी माया का त्याग आवश्यक बताते हैं। परंतु माया का त्याग कुछ खेल नहीं है। बाहर से वह इतनी मधुर जान पड़ती है कि उसे छोड़ते ही नहीं बनता–

'मीठी मीठी माया तजी न जाई।
अग्यानी पुरिष को भोलि भोलि खाई।।'

माया ही विषय वासनाओं को जन्म देती है–

'इक डाइन मेरे मन बसै। नित उठि मेरे जिया को डसै।
या डाइन के लरिका पाँच रे। निसि दिन मोहि नचावै नाच रे।।'

माया के पाँच पुत्र काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर हैं। मनुष्य के अध:पात के कारण ये ही हैं। आत्मा की परमात्मिकता को यही व्यवधान में डालते हैं। अतएव परम तत्त्वार्थियों को इनसे सावधान रहना चाहिए–

'पंच चोर गढ़ मंझा, गढ़ लूटै दिवस अरु संझा।
जो गढ़पति मुहकम होई, तौ लूटि न सकै कोई।।'

माया ही पाखंड की जननी है। अतएव माया का उचित स्थान पाखंडियों के ही पास है। इसलिए माया को संबोधन कर कबीर कहते हैं–

'तहाँ जाहु जहँ पाट पटंबर, अगर चन्दन घसि लीना।'

कर्मकांड को भी कबीर पाखंड ही के अंतर्गत मानते हैं क्योंकि परमात्मा की भक्ति का संबंध मन से है, मन की भक्ति तन को स्वयं ही अपने अनुकूल बना लेगी, भक्ति की सच्ची भावना होने से कर्म भी अनुकूल होने लगेंगे परंतु केवल बाहरी माला जपने अथवा पूजा–पाठ करने से कुछ नहीं हो सकता। यह तो मानो और भी अधिक माया में पड़ना है–

'जप तप पूजा अरचा जोतिग जग बौराना।
कागद लिखि लिखि जगत भुलाना मन ही मन न समाना।।'

इसीलिए कबीर ने 'कर का मनका छाँड़ि के, मन का मनका फेर' का उपदेश दिया है। उनका मत है कि जो माया ऋषि, मुनि, दिगम्बर, जोगी और वेदपाठी ब्राह्मणों को भी धर पछाड़ती है, वही 'हरि भगत कै चेरी' है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि माया के सहचारियों का मिट जाना 'हरि भजन' का आवश्यक अंग है–

'राम भजै सो जानिये, जाकै आतुर नाहीं।
सत संतोष लीयै रहैं, धीरज मन माहीं।।
जन कौं काम क्रोध व्यापै नहीं, त्रिष्णा न जरावै।
प्रफुलित आनंद मैं, गोब्यंद गुण गावै।।'

माया से बचने का एक उपाय, जो भक्तों को बताया गया है, वह संसार से विमुख रहना है। जैसे उल्टा घड़ा पानी में नहीं डूबता परंतु सीधा घड़ा भरकर

डूब जाता है, वैसे ही संसार के सम्मुख होने से मनुष्य माया में डूब जाता है, परंतु संसार से विमुख होकर रहने से माया का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता–

'औंधा घड़ा न जल मैं डूबे, सूधा सूभर भरिया।
जाकौं यह जग घिन करि चालै, ता प्रसादि निस्तरिया॥'

माया का दूसरा नाम अज्ञान है। दर्पण पर जिस प्रकार काई लग जाती है, उसी प्रकार आत्मा पर अज्ञान का आवरण पड़ जाता है जिससे आत्मा में परमात्मा का प्रदर्शन अर्थात् आत्म-ज्ञान दुर्लभ हो जाता है अतएव आत्मा रूपी दर्पण को निर्मल रखना चाहिए–

'जौ दरसन देख्या चाहिए, तौ दरपन मंजत रहिए।
जब दर्पण लागै काई, तब दरसन किया न जाई॥'

दर्पण का यही माँजना हरिभक्ति करना है। भक्ति ही से मायाकृत अज्ञान दूर होता है और ज्ञानप्राप्ति के द्वारा अपने पराए का भेद मिटता है–

'उचित चेति च्यंति लै ताहीं। जा च्यंत आपा पर नाहीं।
हरि हिरदै एक ग्यान उपाया। ताथै छूट गयी सब माया॥'

इस पद में 'च्यंति' शब्द विचारणीय है क्योंकि यह कबीर की भक्ति की विशेषता प्रकट करता है। यह कहना अधिक उचित होगा कि ज्ञानियों की ब्रह्म जिज्ञासा और वैष्णवों की सगुण भक्ति की विशेष बातों को लेकर कबीर ने अपनी निर्गुण भक्ति का भवन खड़ा किया अथवा वैष्णवों के तात्त्विक सिद्धान्तों और व्यावहारिक भक्ति के मिश्रण से कबीर की भक्ति का उद्‌भव हुआ है। सिद्धांत और व्यवहार में, कथनी और करनी में भेद रखना कबीर के स्वभाव के प्रतिकूल है। वैष्णवों में सदा से सिद्धांत और व्यवहार में भेद रहा है। सिद्धांत रूप से रामानुज जी ने विशिष्टाद्वैत वल्लभाचार्य जी ने शुद्धाद्वैत और माधवाचार्य ने द्वैत का प्रचार किया, पर व्यवहार के लिए सगुण भगवान की भक्ति का ध्येय ही सामने रखा गया।

सिद्धांत पक्ष का अज्ञेय ब्रह्म व्यवहार पक्ष में जाने बूझे मनुष्य के रूप में आ बैठा। हम दिखला चुके हैं कि कबीर अपने को वैष्णव समझते थे। परंतु सिद्धांत और व्यवहार का, कथनी और करनी का भेद वे पसन्द नहीं कर सकते थे, अतएव उन्होंने दोनों का मिश्रण कर अपनी निर्गुण भक्ति का भवन खड़ा किया जिसका मुसलमानी खुदावाद से भी बाहरी मेल था।

ज्ञानमार्ग के अनुसार निर्गुण निराकार ब्रह्म शुष्क चिन्तन का विषय है। कबीर ने इस शुष्कता को निकालकर प्रेमपूर्ण चिन्तन की व्यवस्था की है। कबीर

के इस प्रेम के दो पक्ष हैं, परमार्थिक और ऐहिक। परमार्थिक अर्थ में प्रेम का अर्थ लगन है, जिसमें मनुष्य अपनी वृत्तियों को संसार की सब वस्तुओं से विमुख करके समेट लेता है और केवल ब्रह्म के चिन्तन में लगा देता है तथा ऐहिक पक्ष में उसका अभिप्राय संसार के सब जीवों से प्रेम और दया का व्यवहार करना है।

जिन्हें ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है केवल वे ही अमर हैं, जन्म-मरण का भय उन्हें नहीं रह जाता। उनके अतिरिक्त और सब नश्वर हैं। कबीरदास कहते हैं कि मुझे ब्रह्म का साक्षात्कार हो गया है, इसीलिए वे अपने आप को अमर समझते हैं-

'हम न मरैं मरिहै संसारा, हम कूँ मिल्या जिवावनहारा।
अब न मरौं मरनै मन मानां, तेई मुए जिन राम न जाना।।'

मनुष्य की आत्मा ब्रह्म के साथ एक है और ब्रह्म ही एकमात्र चिरस्थायी सत्ता है, जिसका नाश नहीं हो सकता। अतएव मनुष्य की आत्मा का भी नाश नहीं हो सकता, यही कबीर के अस्तित्त्व का रहस्य है-

'हरि मरिहैं तो हम मरिहैं, हरि न मरै हम काहे कूँ मरिहैं।'

परंतु साक्षात्कार के पहले इस अमरत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती। परंतु उस प्रेम का मिलना सहज नहीं है, यह व्यक्तिगत साधना ही से उपलब्ध हो सकता है। यह पूर्ण आत्मोत्सर्ग चाहता है-

'कबीर भाटी कलाल की, बहुतक बैठे आइ।
सिर सौंपै सोई पिवै, नहिं तो पिया न जाइ।।'

जब मनुष्य आत्मोत्सर्ग की इस चरम सीमा पर पहुँच जाता है, तब उसके लिए यह प्रेम अमृत हो जाता है-

'नीझर झरै अमीरस निकसै तिहि मदिरावलि छाका।'

इस प्रेम रूप मदिरा को मनुष्य यदि एक बार भी पी लेता है तो जीवनपर्यंत उसका नशा नहीं उतरता और उसे अपने तन-मन की सब सुध-बुध भूल जाती है-

'हरि रस पीया जानिए, कबहुँ न जाय खुमार।
मैमंता घूमत रहे, नाहीं तन की सार।।'

यह परमानंद की अवस्था है, जिसमें मनुष्य का लौकिक अंश, जो अज्ञानावस्था में प्रधान रहता है, किसी गिनती में नहीं रह जाता, उसे अपने में अंतर्हित आत्मतत्त्व का ज्ञान हो जाता है और उस ब्रह्म के साथ तादात्म्य की

अनुभूति हो जाती है। इसी को साक्षात्कार होना कहते हैं। यह साक्षात्कार हो जाने पर अर्थात् ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति होने पर मनुष्य ब्रह्म ही हो जाता है–ब्रह्मवित् ब्रह्मैव भवति। उपनिषद् के 'तत्त्वमसि' अथवा 'सोऽहं' भाव का यही रहस्य है–

'तूँ तूँ करता तूँ भया, मुझमें रही न हूँ।
वारी फेरी बलि गयी, जित देखी तित तूँ॥'

यह सच है कि ऐतिहासिक अर्थ में निराकार निर्गुण ब्रह्म प्रेम का आलम्बन नहीं हो सकता, केवल चिन्तन का ही विषय हो सकता है, परंतु उस निराकार की इस विश्व विस्तृत सृष्टि में उस मूल तत्त्व की सत्ता का जो आभास मिल जाता है उसके कारण निर्गुण संसार के समस्त प्राणियों को अपने प्रेम और दया का पात्र बना लेता है, जब कि सगुण भक्त की बहुत कुछ भावुकता ठाकुर जी की पूर्ति के बनाव श्रृंगार और उनके भोग–राग के आडम्बर ही में व्यय हो जाती है। इसी प्रेम ने कबीर को ऊँच–नीच का भेद–भाव दूर कर सबकी एकता प्रतिपादित करने की प्रेरणा दी थी–

'एक बूँद एक मल मूतर एक चाम एक गूदा।
एक जाति थै सब उपजा कौन ब्राह्मन कौन सूदा॥'

जातिपाँति का ही नहीं इसी से धर्माधर्म का भेद भी उन्हें अवास्तविक जँचा–

'कहैं कबीर एक राम जपहु रे, हिंदू तुरक न कोई। '

कबीर का प्रेम मनुष्यों तक ही परिमित नहीं है, परमात्मा की सृष्टि के सभी जीव जन्तु उसकी सीमा के अन्दर आ जाते हैं क्योंकि 'सबै जीव साईं के प्यारे हैं। ' अँग्रेजी के कवि कॉलरिज ने भी यही भाव इस प्रकार प्रकट किया है–

'ही प्रेथ बेस्ट हू लव्थ बेस्ट,
ऑल थिंग्स बोथ ग्रेट ऐंड स्मालय
फॉर दि डियर गॉड हू लब्थ अस,
ही मेड ऐंड लव्थ ऑल।'

कबीर का यह प्रेम तत्त्व, जिसका ऊपर निरुपण किया गया है, सूफियों के संसर्ग का फल है परंतु उसमें भी उन्होंने भारतीयता का पुट दे दिया है। सूफी परमात्मा को प्रियतमा के रूप में देखते हैं। उनके 'मजनूँ' को अल्लाह भी लैला नजर आता है परंतु कबीरदास ने परमात्मा को प्रियतम के रूप में देखा है, जो भारतीय माधुर्य भाव के सर्वथा मेल में है। फारस में विरह व्यथा, पुरुषों के मत्थे

और भारत में स्त्रियों के ही मत्थे अधिक मढ़ी जाती है। वहाँ प्रेमी, प्रिया को अपना प्रेम जताने के लिए उत्कट उद्योग करते हैं, और यहाँ प्रेमिका विरह से व्याकुल होकर मुरझाए हुए फूल की तरह अपनी सत्ता तक मिटा देती है। इसी से वहाँ उपासक की पुरुष रूप में और यहाँ स्त्री रूप में भावना की गयी है। परंतु कबीर के सूफियाना भावों में भारतीयता कूट-कूटकर भरी हुई है।

इस प्रकार निर्गुणवाद और सगुणवाद की एकेश्वरवाद से बाहरी समता रखने वाली बातों के सम्मिश्रण और उसके प्रेम तत्त्व के योग से कबीर की भक्ति का निर्माण हुआ। कबीर का विश्वास है कि भक्ति से मुक्ति हो जाती है-

'कहै कबीर संसा नाहीं भगति मुगति गति पाई रे।'

परंतु भक्ति निष्काम होनी चाहिए। परमात्मा का प्रेम अपस्वार्थ की पूर्ति का साधन नहीं है, मनुष्य को यह न सोचना चाहिए कि उससे मुझे कोई फल मिलेगा। यदि फल की कामना हो गयी, तो वह भक्ति, भक्ति न रह गयी और न उससे सत्य की प्राप्ति ही हो सकती है-

'जब लग है बैकुंठ की आशा। तब लग न हरि चरन निवासा।'

ब्रह्म लौकिक वासनाओं से परे है। व्यक्तिगत उच्चतम 'साधन से ही उसकी प्राप्ति हो सकती है, वह स्वयं भक्त के लिए विशेष चिन्तित नहीं रहता। क्योंकि भक्त भी ब्रह्म ही है। वह किसी की सहायता की अपेक्षा नहीं रखता, उसे अपने ब्रह्मत्व की अनुभूति भर कर लेनी पड़ती है, जो, जैसा कि हम देख चुके हैं, कोई खेल नहीं है। इसीलिए ब्रह्म को अवतार धारण करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। जो कबीर मनुष्य से ऐहिक अंश छुड़ाकर उसे ब्रह्मत्व तक पहुँचाना चाहते हैं, उनकी ब्रह्म में लौकिक भावनाओं का समावेश करके उसका अध:पात करने की व्यग्रता स्वाभाविक ही है-

'ना दसरथ घरि औतरि आवा, लंका का राव सतावा।
देवै कूप न औतरि आवा, ना जसवै गोद खिलावा।
ना वो ग्वालन के संग फिरिया, गोबरधन ले न कर धरिया।
बावन होय नहीं बलि छलिया, धरनी बेद ले न उधरिया।
गंडक सालिकराम न कोल, मछ कछ ह्वै जलहिं न डोला।
बद्री वैस्य ध्यान नहिं छावा, परसराम ह्वै खत्री न सँतावा।'

प्रतिमा पूजन के वे घोर विरोधी थे। जिस परमात्मा का कोई आकार नहीं, देशकाल का जिसके लिए कोई आधार आवश्यक नहीं, उसकी मूर्ति कैसी? जगह-जगह पर उन्होंने मूर्तिपूजा के प्रति अपनी अरुचि प्रदर्शित की है-

'हम भी पाहन पूजते होते वन के रोझ।
सतगुरु की किरपा भई, डार्घ्या सिर थैं बोझ॥
सेवें सालिगराम कूँ मन की भ्रंति न जाइ।
सीतलता सुपिनै नहीं, दिन दिन अधकी लाइ॥'

जिसका आकार नहीं, उसकी मूर्ति का सहारा लेकर उसकी प्राप्ति का प्रयत्न वैसा ही है जैसा झूठ के सहारे सच तक पहुँचने का प्रयत्न। असत्य से मन की भ्रान्ति बढ़ेगी ही, घट नहीं सकतीय और उससे जिज्ञासा की तृप्ति होना तो असंभव ही है।

मूर्तिपूजा में भगवान् की मूर्ति को जो भोग लगाने की प्रथा है, उसकी वे इस तरह हँसी उड़ाते हैं–

'लाडू लावर लापसी पूजा चढ़े अपार।
पूजि पुरारा ले चला दे मूरति के मुख छार॥'

यद्यपि कबीर अवतारवाद और मूर्तिपूजा के विरोधी थे, तथापि हिंदूमत की कई बातें वे पूर्णतया मानते हैं। हिन्दुओं का जन्म–मरण–संबंधी सिद्धांत वे मानते हैं। मुसलमानों की तरह वे एक ही जन्म नहीं मानते, जिसके बाद मरने पर प्राणी कब्र में पड़ा–पड़ा कयामत तक सड़ा करता है, जब तक कि प्राणी पुनःजीवित होकर खुदावंद करीम के सामने अपने–अपने कर्मों के अनुसार अनन्त काल तक दोजख की आग में जलने अथवा बिहिश्त में हूरों और गिलमों का सुख भोगने के लिए पेश किए जाये। एक स्थान पर, 'उबरहुगे किस बोले' कह कर कबीर ने इसी विश्वास की ओर संकेत किया है। परंतु यह उन्होंने बोलचाल के ढंग पर कहा है, सिद्धांत के रूप में नहीं। ये बातें कुछ उसी प्रकार कही गयी हैं, जिस प्रकार सूर्य के चारों ओर पृथ्वी के घूमने के कारण दिन–रात का होना मानने पर भी साधारण बोलचाल में यह कहना कि 'सूर्य उगता है'। सिद्धांत रूप से वे अनेक जन्म मानते हैं। 'जनम अनेक गया अरु आया'। इस जन्म में जो कुछ भोगना पड़ता है वह पूर्व जन्म के कर्मों का ही फल है, 'देखौ कर्म कबीर का कछू पूरब जनम का लेखा'। कबीर ने यह तो कहा है कि सृष्टि के सृजन और लय का कारण परमात्मा है, परंतु उन्होंने यह नहीं कहा कि सृष्टि की रचना कैसे और किस क्रम से हुई है, कौन तत्त्व पहले हुआ और कौन पीछे। इस विषय में वे शंका मात्र उठाकर रह गये हैं, उसका समाधान उन्होंने नहीं किया–

'प्रथमे गगन कि पुहुमि प्रथमे प्रभू, प्रथमे पवन की पांणीं।
प्रथमे चंद कि सूर प्रथमे प्रभू, प्रथमे कौन बिनांणी॥

प्रथमे प्राण कि प्यंड प्रथमे प्रभू, प्रथमे रकत की रेंत।
प्रथमे पुरिष की नारी प्रथमे प्रभू, प्रथमे, बीज की खेत॥
प्रथमे दिवस कि रैणि प्रथमे प्रभू, प्रथमे पाप की पुण्यं।
कहै कबीर जहाँ बसहु निरंजन, तहाँ कछु आहि कि सुन्यं॥'

ऊपर हमने कबीर की रचना में वेदान्त सम्मत अद्वैतवाद की एक पूरी-पूरी पद्धति के दर्शन किए हैं, जिसे हम शुद्धाद्वैत नहीं मान सकते। शुद्धाद्वैत में माया ब्रह्म की ही शक्ति मानी जाती है, परंतु कबीर ने माया को मिथ्या या भ्रममात्र माना है, जिसका कारण अज्ञान है। यह शंकर का अद्वैत है, जिसमें आत्मा और परमात्मा परमार्थतः एक माने जाते हैं, परंतु बीच में अज्ञान के आ पड़ने से आत्मा अपनी परमार्थिकता को भूल जाती है। ज्ञान प्राप्त हो जाने पर अज्ञान कृत भेद मिट जाता है और आत्मा को अपनी परमात्मिकता की अनुभूति हो जाती है। यही बात हम कबीर में देख चुके हैं।

परंतु उन पर समय और परिस्थितियों का अलक्ष्य प्रभाव भी पड़ा था, जिसके कारण वे असावधानी में ऐसी बातें भी कह गये हैं, जो उनके अद्वैत सिद्धांत से मेल नहीं खाती। उन्होंने स्थान-स्थान पर अवतारवाद का विरोध ही किया है, परंतु उनके नीचे लिखे पद से अवतारवाद का समर्थन भी होता है-

'बांधि मारि भावै देह जारि जै, हूँ राम छाड़ौ ताँ मेरे गुरुहिं यारि।
तब काटि खड़ग कोप्यो रिसाइ तोहि राखनहारौं मोंहि बताइ॥
खम्भा मैं प्रगट्यौ गिलारि, हरनाकस मारौं नख विदारि।
महा पुरुष देवाधिदेव, नरयंध प्रकट किए भगति मेव॥
कहै कबीर कोई लहैं न पारय प्रहिलाद उबारो अनेक बार।'

बात यह है कि उपासना के लिए उपास्य में कुछ गुणों का आरोप आवश्यक होता है बिना गुणों के प्रेम का आलम्बन हो ही नहीं सकता। उपनिषदों तक में निराकार निर्गुण ब्रह्म में उपासना के लिए गुणों का आरोप किया गया है। एकेश्वरवादी धर्मों में जहाँ कट्टरपन ने परमात्मा में गुणों का आरोप नहीं करने दिया, वहाँ परमात्मा और मनुष्य के बीच में एक और मनुष्य का सहारा लिया गया है। ईसाइयों को ईसा और मुसलमानों को मुहम्मद का अवलम्बन ग्रहण करना पड़ा। भक्ति झोंक में कबीर भी जब सांसारिक प्रेम मूलक सम्बन्धों के द्वारा परमात्मा की भावना करने लगे, तब परमात्मा में स्वयं ही गुणों का आरोप हो गया। माता-पिता और प्रियतम निर्जीव पत्थर नहीं हो सकते। माता के रूप में परमात्मा की भावना करते हुए वे कहते हैं-

'हरि जननी मैं बालक तेरा। कस नहिं बकसहु अवगुण मेरा।।'
अवतारवाद में यही सगुणवाद पराकाष्ठा को पहुँचा हुआ है।

कबीर में कई बात ऐसी भी हैं, जिसमें दिखाई देने वाला विरोध केवल भाषा की असावधानी से आया है। कबीर शिक्षित नहीं थे, इसलिए उनकी रचनाओं में यह दोष क्षम्य है।

व्यावहारिक सिद्धांत

कबीरदास जी ने धार्मिक सिद्धान्तों के साथ-साथ उनकी पुष्टि के लिए अनेक स्थानों पर अलौकिक आचरण अथवा व्यवहारों का वर्णन किया है। यदि उनकी वाणी का पूरा-पूरा विवेचन किया जाये तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि उनकी साखियों का विशेष संबंध लौकिक आचरणों से है तथा पदों का संबंध विशेष कर धार्मिक सिद्धान्तों तथा अंशतः लौकिक आचरण से है। लौकिक आचरण की इन बातों को भी दो भागों में विभक्त कर सकते हैं, कुछ तो निवृत्ति मूलक हैं और कुछ प्रवृत्ति मूलक। कबीर स्वतंत्र प्रकृति के मनुष्य थे। उनके चारों ओर शारीरिक दासता का घेरा पड़ा हुआ था। वे इस बात का अनुभव करते थे कि शारीरिक स्वातन्त्र्य के पहले विचार स्वातन्त्र्य आवश्यक है। जिनका मन ही दासता की बेड़ियों से जकड़ा हो, वह पाँवों की जंजीरें क्या तोड़ सकेगा। उन्होंने देखा था कि लोग नाना प्रकार के अंधविश्वासों में फँसकर हीन जीवन व्यतीत कर रहे है, अतः लोगों को इसी से मुक्त करने का प्रयत्न किया। मुसलमानों के रोजा, नमाज, हज, ताजिएदारी और हिन्दुओं के श्राद्ध, एकादशी, तीर्थव्रत, मंदिर सबका उन्होंने विरोध किया है। कर्मकांड की उन्होंने भर पेट निंदा की है। इस बाहरी पाखंड के लिए उन्होंने हिंदू-मुसलमान दोनों को खूब फटकारें सुनाई हैं। धर्म को वे आडम्बर से परे एकमात्र सत्य सत्ता मानते थे, जिसके हिंदू-मुसलमान आदि विभाग नहीं हो सकते। उन्होंने किसी नामधारी धर्म के बन्धन में अपने आपको नहीं डाला और स्पष्ट कह दिया है कि मैं न हिंदू हूँ, न मुसलमान।

जिस सत्य को कबीर धर्म मानते हैं, वह सब धर्मों में है। परंतु इस सत्य को सबने मिथ्या विश्वास और पाखंड से परिच्छिन्न कर दिया है। इस बाहरी आडम्बर को दूर कर देने से धर्मभेद से समस्त झगड़े, बखेड़े दूर हो जाते हैं, क्योंकि उससे वास्तव में धर्मभेद ही नहीं रह जाता। फिर तो हिंदू-मुस्लिम ऐक्य का प्रश्न स्वयं ही हल हो जाता है। पर एक अलग धार्मिक संप्रदाय के रूप में

कबीरपंथ तो कबीर के मूल सिद्धान्तों के वैसे ही विरुद्ध है जैसे हिंदू और मुसलमान धर्म, जिनका उन्होंने जी भर खंडन किया है।

धार्मिक सुधार और समाज सुधार का घनिष्ठ संबंध है। धर्म सुधारक को समाज सुधारक होना पड़ता है। कबीर ने भी समाज सुधार के लिए अपनी वाणी का उपयोग किया है। हिन्दुओं की जाति-पाँति, छुआछूत, खान-पान आदि के व्यवहारों और मुसलमानों के चाचा की लड़की ब्याहने, मुसलमानी आदि कराने का उन्होंने चुभती भाषा में विरोध किया है और इनके विषय में हिंदू-मुसलमान दोनों की जी भरकर धूल उड़ाई है। हिन्दुओं के चौके के विषय में वे कहते हैं-

'एकै पवन एक ही पाणी करी रसोई न्यारी जानी।
माटी सूँ माटी ले पोती, लागी कहौ कहाँ धूँ छोती॥
धरती लीपि पवित्तर कीन्हीं, छोति उपाय लीक बिचि दीन्हीं।
याका हम सूँ कहो विचारा, क्यूँ भव तिरिहौ इहि आचारा॥'

छुआछूत का उन्होंने इन शब्दों में खंडन किया है-

'काहैं की कीजै पाँडे छोति विचारा। छोतिहिं ते उपना संसारा॥
हमारे कैसें लोहू तुम्हारे कैसें दूध। तुम्ह कैसे ब्राह्मण पांडे हम कैसे सूद॥
छोति छोति करता तुम्ह हीं जाए। तौ ग्रभवास काहे को आये॥
जनमत छोति मरत ही छोति। कहै कबीर हरि की निर्मल जोति॥'

जन्म ही से कोई द्विज या शूद्र अथवा हिंदू या मुसलमान नहीं हो सकता। इसकी कबीर ने कितने सीधे किंतु मन में जम जाने वाले ढंग से कहा है-

'जौ तूँ बाँभन बंभनी जाया। तौ आन वाट ह्वै क्यों नहिं आया॥'
'जौ तूँ तुरक तुरकनी जाया। तौ भीतर खतना क्यों न कराया॥'

उच्चता और नीचता का संबंध उन्होंने व्यवसाय के साथ नहीं जोड़ा है क्योंकि कोई व्यवसाय नीच नहीं है। अपने को जुलाहा कहने में भी उन्होंने कहीं संकोच नहीं किया और वे स्वयं आजीवन जुलाहे का व्यवसाय करते रहे। वे उन ज्ञानियों में से नहीं थे, जो हाथ-पाँव समेट कर पेट भरने के लिए समाज के ऊपर भार बनकर रहते हैं। वे परिश्रम का महत्त्व जानते थे और अपनी आजीविका के लिए अपने हाथों का आसरा रखते थे।

परंतु अपनी आजीविका भर से वे मतलब रखते थे, धन सम्पत्ति जोड़ना वे उचित नहीं समझते थे। थोड़े ही में संतोष करने का उन्होंने उपदेश दिया है। जो कुछ वे दिन भर में कमाते थे, उसका कुछ अंश अवश्य साधु-संतों

की सेवा में लगाते थे और कभी-कभी सब कुछ उनकी सेवा में अर्पित कर डालते और आप निराहार रह जाते थे। कहते हैं, कि एक दिन वे गाढ़े का एक थान बेचने के लिए हाट गये। वस्त्र के अभाव से दुखी एक फकीर को देखकर उन्होंने उसमें से आधा उसे दे दिया। पर जब फकीर ने कहा कि मेरा तन ढंकने के लिए वह काफी नहीं है, तब उन्होंने सारा उसे ही दे डाला और खाली हाथ घर चले आये। धन-धरती जोड़ना कबीर की सन्तोषोवृत्ति के विरुद्ध था। उन्होंने कहा भी है-

'काहे कूँ भीत बनाऊँ टाटी, का जाणूँ कहँ परिहै माटी। काहे कूँ मंदिर महल चिनाऊँ, मूवाँ पीछै घड़ी एक रहन न पाऊँ।'

काहे कूँ छाऊँ ऊँच उचेरा, साढै तीन हाथ घर मेरा।
कहै कबीर नर गरब न कीजै, जेता तन तेतीं भुइ लीजै॥

कबीर अत्यंत सरल हृदय थे। बालकों में सरलता की पराकाष्ठा होती है, यह सब जानते हैं। इसका कारण वर्ड्सवर्थ के अनुसार यह है कि बालक में परमार्थिकता अधिक रहती है। पर ज्यों ज्यों बालक की अवस्था बढ़ती जाती है त्यों-त्यों उसमें परमार्थिकता की न्यूनता होती जाती है। इसीलिए अपने खोए हुए बालकत्व के लिए वर्ड्सवर्थ कवि क्षुब्ध हैं। परंतु कबीर कहते हैं कि यदि मनुष्य स्वयं भक्ति भाव से अपने मन को निर्मल कर परमात्मा की ओर मुड़े तो वह फिर से इस सरलता को प्राप्त कर बालक हो सकता है-

जों तन माहैं मन धरै, मन धरि निर्मल होइ।
साहिब सों सनमुख रहै, तौ फिरि बालक होइ॥

कबीर की गर्वोक्तियों के कारण लोग उन्हें घमण्डी समझते हैं। ये गर्वोक्तियाँ कम नहीं हैं। उनके नाम से प्रसिद्ध नीचे लिखा पद, जो इस ग्रंथावली में नहीं है, लोगों में बहुत प्रसिद्ध है-

'झीनी झीनी बीनी चदरिया। '
काहै कै ताना काहैं के भरनी, कौन तार से बीनी चदरिया।
इंगला पिंगला ताना भरनी, सुखमन तार से बीनी चदरिया।
आठ कँवल दल चरख डोलै, पाँच तत्त गुन तीनी चदरिया।
साँइ को सियत मास दस लागे, ठोक ठोक कै बीनी चदरिया।
सो चादर सुर नर मुनि ओढ़े, ओढ़ कै मैली कीनी चदरिया।
दास कबीर जतन से ओढ़ी, ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया।

इस ग्रंथावली में भी ऐसी गर्वोक्तियों की कोई कमी नहीं है-

(क) 'हम न मरै मरिहै संसारा। '

(ख) 'एक न भूला दोइ न भूला भूला सब संसारा।
एक न भूला दास कबीरा, जाकै राम अधारा।।'

(ग) 'देखौ कर्म कबीर का, कछू पूरब जनम का लेखा।
जाका महल न मुनि लहै, सौ दोसत किया अलेखा।।'

परंतु यह गर्व लोगों को नीचे देखने वाला गर्व नहीं है–साक्षात्कारजन्य गर्व है, स्वामी के आधार का गर्व है, जो सबमें परमात्मिकता का अनुभव करके प्राणि मात्र को समता की दृष्टि से देखता है। अपनी परमात्मिकता की अनुभूति की गर्मी में उनका ऐसा कहना स्वाभाविक ही है, जो उनके मुँह से अनुचित भी नहीं लगता। जो हो, कम से कम छोटे मुँह बड़ी बात की कहावत उनके विषय में चरितार्थ नहीं हो सकती। वे पहुँचे हुए महात्मा थे। उन्होंने स्वयं अपनी गिनती गोपीचन्द, भर्तृहरि और गोरखनाथ के साथ की है–

'गोरष भरथरि गोपीचन्दा। ता मन सो मिलि करै अनन्दा।
अकल निरंजन सकल सरीरा। ता मन सौं मिलि रहा कबीरा।'

परंतु इतने ऊँचे पद पर वे विनय के द्वारा ही पहुँच सके हैं। इसी से उनका गर्व उच्चतम मनुष्यता का प्रेममय गर्व है जिसकी आत्मा विनय है। सच्चे भक्त की भाँति उन्होंने परमात्मा के महत्त्व और अपनी हीनता का अनुभव किया है–

'तुम्ह समानि बाता नहीं, हम से नहीं पापी। '

स्वामी के सामने वे विनय के अवतार हैं–

'कबीर कूता राम का, मुतिया मेरा नाउँ।
गलै राम की जेवड़ी, जित खैंचे तित जाउँ।।'

उनकी विनय यहाँ तक पहुँची है कि वे बाट का रोड़ा होकर रहना चाहते हैं जिस पर सबके पैर पड़ते हैं। परंतु रोड़ा पाँव में चुभकर बटोहियों को दु:ख देता है, इसलिए वह धूल के समान रहना उचित समझते हैं। किंतु धूल भी उड़कर शरीर पर गिरती है और उसे मैला करती है, इसलिए पानी की तरह होकर रहना चाहिए, जो सबका मैल धोवे। पर पानी भी ठंडा और गर्म होता है, जो अरुचि का विषय हो सकता है। इसलिए भगवान की ही तरह होकर रहना चाहिए। कबीर का गर्व और दैन्य दोनों मनुष्य को उसकी परमात्मिकता की अनुभूति कराने वाले हैं।

कबीर पहुँचे हुए ज्ञानी थे। उनका ज्ञान पोथियों से चुराई हुई सामग्री नहीं थी और न वह सुनी सुनाई बातों का बेमेल भण्डार ही था। पढ़े लिखे तो वे थे

नहीं, परंतु सत्संग से भी जो बातें उन्हें मालूम हुई, उन्हें वे अपनी विचारधारा के द्वारा मानसिक पाचन से सर्वदा अपना ही बना लेने का प्रयत्न करते थे। उन्होंने स्वयं कहा है 'सो ज्ञानी आप विचारै'। फिर भी कई बातें उनमें ऐसी मिलती हैं, जिनका उनके सिद्धान्तों के साथ मेल नहीं पड़ता। उनकी ऐसी उक्तियों को समय और परिस्थितियों का तथा भिन्न-भिन्न मतावलम्बियों के संसर्ग का अलक्ष्य प्रभाव समझना चाहिए।

कबीर बहुश्रुत थे। सत्संग से वेदान्त, उपनिषदों और पौराणिक कथाओं का थोड़ा बहुत ज्ञान उनको हो गया था, परंतु वेदों का उन्हें कुछ भी ज्ञान नहीं था। उन्होंने वेदों की जो निंदा की है, वह यह समझकर कि पण्डितों में जो पाखंड फैला हुआ है, वह वेदज्ञान के कारण ही है। योग की क्रियाओं के विषय में भी उनकी जानकारी थी। इंगला, पिंगला, सुषुम्ना षट्चक्र आदि का उन्होंने उल्लेख किया है, परंतु वे योगी नहीं थे। उन्होंने योग को भी माया में सम्मिलित किया है। केवल हिंदू-मुसलमान दो धर्मों का उन्होंने मुख्यतया उल्लेख किया है पर इससे यह न समझना चाहिए कि भारतवर्ष में प्रचलित और धर्मों से वे परिचित नहीं थे। वे कहते हैं-

'अरु भूले षट्दरसन भाई। पाषंड भेष रहे लपटाई।
जैन बोध औरे साकत सैना। चारवाक चतुरंग बिहूना।।
जैन जीव की सुधि न जाने। पाती तोरी देहुरै आनै।'

इससे ज्ञात होता है कि अन्य धर्मों से भी उनका परिचय था, पर कहाँ तक उनके गूढ़ रहस्यों को वे समझते थे यह नहीं विदित होता। जहाँ तक देखा जाता है, ऐसा जान पड़ता है कि ऊपरी बातों पर ही उन्होंने विशेष ध्यान दिया है। मार्मिक तात्त्विक बातों तक ये नहीं गये हैं। ईसाई धर्म का उनके समय तक इस देश में प्रवेश नहीं हुआ था पर बिलाइत का नाम उनकी साखी में एक स्थान पर अवश्य आया है-'बिन बिलाइत बड़ राज'। यह निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता कि 'बिलाइत' से उनका यूरोप के किसी देश से अभिप्राय था अथवा केवल विदेश से। कबीरदास जी ने शाक्तों की बड़ी निंदा की है। जैसे-

वैश्नो की छपरी भली, न साकत का बड़ागाँव।
साषत ब्राभण मति मिलै, वैषनों मिलै चंडाल।
अंक माल दे भेटिये, मानौ मिलै गोपाल।

कबीर रहस्यवादी कवि हैं। रहस्यवाद के मूल में अज्ञात शक्ति की जिज्ञासा काम करती है। संसार चक्र का प्रवर्तन किसी अज्ञान शक्ति के द्वारा होता है, इस

बात का अनुभव मनुष्य अनादि काल से करता चला आया है। उस अज्ञात शक्ति को जानने की इच्छा सदैव मनुष्य को रही है और रहेगी परंतु वह शक्ति उस प्रकार स्पष्टता से नहीं दिखाई दे सकती, जिस प्रकार जगत् के अन्य दृश्य रूप, और न उसका ज्ञान ही उस प्रकार साधारण विचारधारा के द्वारा हो सकता है, जिस प्रकार इन दृश्य रूपों का होता है। अपनी लगन से जो इस क्षेत्र में सिद्ध हो गये हैं, उन्होंने जब-जब अपनी अनुभूति का निरुपण करने का प्रयत्न किया है, तब-तब अपनी उक्तियों की स्पष्टता देने में अपने आपको समर्थ नहीं पाया है। कबीर ने स्पष्ट कर दिया है कि परमात्मा का प्रेम और उसकी अनुभूति गूँगे के गुड़-सा है-

(क) 'अकथ कहानी प्रेम की, कछु कही न जाइ।
गूँगे केरी सरकरा, बैठा मुसकाइ।।'

(ख) 'तजि बावै दाहिनै बिकार, हरि पद दिढ़ करि गहिए।
कहै कबीर गूँगे गुड़ खाया, बूझै तो का कहिए।।'

यही रहस्यवाद का मूल है। वेद और उपनिषदों में रहस्यवाद की झलक विद्यमान है। गीता में भगवान के मुँह से उनकी विभूति का जो वर्णन कराया गया है वह भी अत्यंत रहस्यपूर्ण है। परमात्मा को पिता, माता, प्रियतम, पुत्र अथवा सखा के रूप में देखना रहस्यवाद ही है, क्योंकि लौकिक अर्थ में परमात्मा इनमें से कुछ भी नहीं है। आदर्श पुरुषों में परमात्मा की विशेष कला का साक्षात्कार कर उनकी अवतार मानने के मूल में भी रहस्यवाद ही है। मूर्ति को परमात्मा मानकर उसे मस्तक नवाना आदिम रहस्यवाद है।

परमात्मा के पितृत्व की भावना बहुत प्राचीन काल से वेदों ही में मिलने लगती है। ऋग्वेद की एक ऋचा में 'योनः पिता जनिता यो विधाता' कहकर परमात्मा का स्मरण किया गया है। वेदों में परमात्मा को माता भी कहा गया है-' त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शकतो बभूविय'। परमात्मा के मातृ-पितृ से प्राणियों के भ्रातृत्व की भावना का उदय होता है। 'अज्येष्ठासौ अकनिष्ठासौ एते सभ्रातरौ'। बहुत पीछे के ईसाई ईश्वरवाद में परमात्मा के पितृत्व और प्राणियों के भ्रातृत्व की यही भावना पाई जाती है, अतएव पश्चिमी रहस्यवाद में भी इस भावना का प्राबल्य है। कबीर में भी यह भावना मिलती है-

'बाप राम राया अबहूँ सरन तिहारी। '

उन्होंने परमात्मा को 'माँ' भी कहा है-

'हरि जननी मैं बालिक तेरा। '

परंतु भारतीय रहस्यवाद की विशेषता सर्वात्मवाद मूलक होने में है, जो भारतीयों की ब्रह्म जिज्ञासा का फल है। उपनिषदों और गीता का रहस्यवाद यही रहस्यवाद है। जिज्ञासु जब ज्ञानी की कोटि पर पहुँचकर कवि भी होना चाहता है तब तो अवश्य ही वह इस रहस्यवाद की ओर झुकता है। चिन्तन के क्षेत्र का ब्रह्मवाद कविता के क्षेत्र में जाकर कल्पना और भावुकता का आधार पाकर इस रहस्यवाद का रूप पकड़ता है। सर्वात्मवादी कवि के रहस्योद्भावी मानस में संसार उसी रूप में प्रतिबिम्बित नहीं होता, जिस रूप में साधारण मनुष्य उसे देखता है। यह परमात्मा के साथ सारी सृष्टि का अखंड संबंध देखता है, जिसके चरितार्थ करने का प्रयत्न करते हुए जायसी ने जगत् के सब रूपों को दिखलाया है। जगत् के नाना रूप उसकी दृष्टि में परमात्मा से भिन्न नहीं हैं, उसी के भिन्न-भिन्न व्यक्त रूप हैं।

स्वातन्त्र्य के अवतार स्त्रोत्व का आध्यात्मिक मूल समझने वाले अंग्रेजी के कवि शेली को भी सर्वात्मवादी रहस्यता ही 'मर्मर करते हुए काननों में झरनों में, उन पुष्पों की परागगंध में, जो उस दिव्य चुम्बन के सुखस्पर्श से सोए हुए कुछ बरौते से मुग्ध पवन को उसका परिचय दे रहे हैं, इसी प्रकार मन्द या तीव्र समीर में, प्रत्येक आते-जाते मेघखंड की झड़ी में, बसंतकालीन विहंगमों के कलकूजन में और सब ध्वनियों और स्तब्धता में भी प्रियतम की मधुर वाणी सुनाई दी है। कबीर में ऊपर परिगणित कुछ अन्य रहस्यवादी भावनाओं के होते हुए भी प्रधानता इसी रहस्यवाद की है। मुसलमान कवियों की प्रेमाख्यात परंपरा के जायसी एक जगमगाते रत्न हैं। वे रहस्यवादी कवियों की ही एक लड़ी हैं जिसमें सूफियों के मार्ग से होते हुए भारतीय सर्वात्मवाद आया है।

सर्वात्मवाद मूलक रहस्यवाद में 'माधुर्य भाव का उदय हुआ, जो कबीर और प्रेमाख्यानक सब मुसलमान कवियों में विद्यमान है। वैष्णवों और सूफियों की उपासना माधुर्य भाव से युक्त होती है। दार्शनिकों ने परमात्मा को पुरुष और जगत् को स्त्री रूप प्रकृति कहा है। माधुर्य भाव इसी का भावुक रूप है, जिसमें परमात्मा की प्रियतम के रूप में भावना की जाती है और जगत् के नाना रूप स्त्री रूप में देखे जाते हैं। मीराबाई ने तो केवल कृष्ण को ही पुरुष माना है जगत् में पुरुष उन्हें और कोई दिखाई ही नहीं दिया। कबीर भी कहते हैं-

(क) कहै कबीर व्याहि चले हैं 'पुरुष एक अविनासी। '

(ख) 'सखी सुहाग राम मोहिं दीन्हा।'

इस तरह के एक-दो नहीं कई उदाहरण दिए जा सकते हैं। राम की सुहागिन पहले अपना प्रेम निवेदन करती है-

'गोकुल नायक बीठुला मेरो मन लागौ तोहि रे। '

यह जीवात्मा का परमात्मा में लगन लगने का आरंभिक रूप है। इसे ब्याह के पहले का पूर्वानुराग समझना चाहिए।

कभी वह वियोगिनी के रूप में प्रकट होती है और उस वियोगाग्नि में जले हुए हृदय के उद्‌गार प्रकट करती है-

'यह तन जालौं मसि करौं, लिखौ राम का नाउँ।
लेखणि करौं करंक की लिखि लिखि राम पठाउँ।।'

परमात्मा के वियोग से जनित सारी सृष्टि का दुख कितना घना होकर कबीर के हृदय में समाया है।

राम की वियोगिन आकुलता से उन दिनों की बाट देखती है जब वह प्रियतम का आलिंगन करेगी-

'वै दिन कब आवैंगे भाई।
जा कारनि हम देह धरीं है, मिलिबौ अंग लगाई।।'

यहाँ जीवात्मा के परमात्मा से मिलने की आकुलता की ओर संकेत है। इस आकुलता के साथ-साथ भय भी रहता है। सारा विश्व जिसका व्यक्त रूप है, उस प्रियतम से मिलने के लिए असाधारण तैयारी करने की आवश्यकता होती है। 'हरि की दुलहिन' को भय इस आशंका से होता है कि वह उतनी तैयारी कर सकेगी या नहीं। उसे अपने ऊपर विश्वास नहीं होता। फिर रहस्य केलि के समय प्रियतम के साथ किस प्रकार का व्यवहार करना होगा, यह भी नहीं जानती-

'मन प्रतीति न प्रेमरस ना इस तन में ढंग।
क्या जाणौ उस पीय सूँ कैसे रहसी रंग।।'

इसमें साक्षात्कार की महत्ता का आभास है, जो एक साधारण घटना नहीं है। ज्यों-ज्यों जीवात्मा को अपनी परमात्मिकता का अनुभव होता जाता है, त्यों-त्यों उसका भय जाता रहता है। लौकिक भाषा में इसी की ओर इस पद में इशारा है-

अब तोंहिं जान न दैहूँ राम पियारे। ज्यूँ भावै त्यूँ होहु हमारे।

यह प्रेम की ढिठाई है।

परामात्मा से मिलने के लिए ऐसी ऊँची गैल, राह रपटीली नहीं तै करनी पड़ती जहाँ 'पाँव नहीं ठहराय'। वह तो घर बैठे मिल जायेंगे पर उसके लिए पहुँची हुई लगन चाहिए, क्योंकि परमात्मा तो हृदय ही में हैं–

'बहुत दिनन के बिछेरे हरि पाये। भाग बड़े घरि बैठे आये। '

कबीरदास के नाम से लोगों की जिह्वा पर जो यह पद–

'मो को कहाँ ढूँढे बन्दे मैं तो तेरे पास में।

ना मैं देवन, ना मैं मसजिद, ना काबे कैलास में।।'

बहुत दिनों से चढ़ा चला आ रहा है, उसका भी यही भाव है। जायसी ने यही भाव यों प्रकट किया है–

'पिउ हिरदय महँ भेंट न होई। को रे मिलाय, कहौं केहि रोई।'

रहस्यमय उक्तियों की हृदयात्मकता उनके लोक नियोजित शब्दार्थ में नहीं है। उस अर्थ को मानने से उनकी रहस्यात्मकता जाती रहती है, उनका संकेत मात्र ग्रहण करना चाहिए। मूर्ति को परमात्मा मानकर उसका पूजन इसीलिए करना चाहिए कि ईश्वर प्राप्ति में आगे की सीढ़ी सहज में चढ़ सके, क्योंकि साधारणतः सब लोग परमात्मा या ब्रह्म का ठीक–ठीक स्वरूप समझने में नितान्त असमर्थ होते है, अतः मूर्तिपूजा के द्वारा मानो मनुष्य को ब्रह्म के सभी साक्षात्कार की प्रारम्भिक शिक्षा मिलती है। उसके आगे बढ़कर सचमुच पत्थर को परमात्मा मानने से फिर कोई रहस्य नहीं रह जाता।

ईसाइयों ने परमात्मा के पितृत्व भाव की उसी समय इतिश्री कर दी, जब ईसा और लौकिक अर्थ में परमात्मा या पवित्रात्मा का पुत्र मान लिया। राम और कृष्ण को साक्षात् परमात्मा ही मानने के कारण तुलसी और सूर में अवतारवाद की मूलभूत रहस्यभावना नहीं आ पाई है। सखी संप्रदाय ने मनुष्यों को सचमुच स्त्री मानकर और उनके नाम भी स्त्रियों जैसे रखकर और यहाँ तक कि उनसे ऋतुमती स्त्रियों का अभिनय कराकर 'माधुर्य भाव' के रहस्यवाद को वास्तववाद का रूप दे दिया। रहस्यवाद के वास्तववाद में पतित हो जाने के कारण ही सदुद्देश्य से प्रवर्तित अनेक धर्म संप्रदायों में इन्द्रियलोलुपता का नारकीय नृत्य देखने में आता है।

रहस्यवादी कवियों का वास्तववादियों से इसी बात में भेद है कि वास्तववादी कवि अपने विषय का यथातथ्य वर्णन करते हैं, और रहस्यवादी केवल संकेत मात्र कर देते हैं, अपने वर्ण्यविषय का आभास भर देते हैं। उनमें जो यह धुँधलापन पाया जाता है, उसका कारण उनकी आध्यात्मिक प्रवृत्ति है।

परमात्मा की सत्ता का आभास मात्र ही दिया जा सकता है। इसके लिए वे व्यंजनावृत्ति से अधिकतर काम लिया करते हैं और चित्रधान उनका प्रधान उपादान होता है। उनकी बातें अन्योक्ति के रूप में हुआ करती हैं। किसी प्रत्यक्ष व्यापार के चित्र को लेकर वे उससे दूसरे परोक्ष व्यापार के चित्र की व्यंजना करते हैं। इसी से रहस्यवादी कवियों में वास्तववादियों की अपेक्षा कल्पना का प्राचुर्य अधिक होता है।

रसिकों की सम्मति में कबीर का रहस्यवाद रूखा है, उनका माधुर्य भाव भी उन्हें फीका लगता है, उनके चित्रों में उन्हें अनेकरूपता नहीं दिखाई देती। कबीर ने अपनी उक्तियों को काव्य की काट-छाँट नहीं दी है, परंतु इसकी उन्हें जरूरत ही नहीं थी। इस बात का प्रयास वह करेगा जिसमें कुछ सार न हो।

कबीर में चित्रों की अनेकरूपता न देखना उनके साथ अन्याय करना है। ब्याह का ही दृश्य वे कई बार अवश्य लाए हैं, पर जैसा कि पाठकों को आगे चलने पर मालूम होता जायेगा, उनका रहस्यवाद माधुर्य भाव में ही नहीं समाप्त हो जाता। प्रकृति से चुने-चुने चित्र उनकी उक्तियों में अपने आप आ बैठे हैं। हाँ, उन्होंने प्रयास करके अपनी उक्तियों को काव्य की मधुरता नहीं दी है। फिर भी उनकी ऊपरी सहृदयता न सही तो अनन्य हृदयता और तल्लीनता व्यर्थ कैसे जा सकती थी। जो उन्हें बिलकुल ही रूखा समझते हैं, उन्हें उनकी रहस्यमयी अन्योक्तियों को देखना चाहिए-

'काहे री नलिनी! तू कुमिलानी। तेरे ही नालि सरोवर पानी।
जल में उतपति जल में बास, जल में नलिनी तोर निवास।
ना तलि तपति न ऊपर आगि, तोर हेत कहु कासनि लागि।
कहै कबीर जे उदिक समान, ते नहीं मूए हमारे जान।'

कैसा मृदुल मनमोहक चित्र है! इसका सहज माधुर्य किसे न मोह लेगा। प्रकृति का प्रतिनिधि मनुष्य नलिनी है, जल ब्रह्म तत्त्व है। इसी में प्रकृति के नाना रूपों की उत्पत्ति होती है, यही पोषक तत्त्व है, जो मनुष्य और नाना रूपों में स्वयं विद्यमान है। इस जल की शीतलता के सामने कोई ताप ठहर नहीं सकता। यह तत्त्व समझकर इस पोषण सामग्री का उपयोग करने वाला (अर्थात् ज्ञानी) मर ही कैसे सकता है?

औद्यानिक भाषा में सांसारिक जीवन की नश्वरता का कितना प्रभावशाली आभास नीचे लिखे दोहे में है-

'मालिन आवत देखि करि, कलियाँ करीं पुकार।
फूले फूले चुन लिए, काल्हि हमारी बार।'

और देखिए–

'बाढ़ी आवत देखि करि, तरिवर डोलन लाग।
हम कटे कि कछु नहीं, पंखेरू घर भाग।'

बढ़ई काल है, वृक्ष का डोलना वृद्धावस्था का कंप है, पक्षी आत्मा है। यह डोलना आत्मा को इस बात की चेतावनी देता है कि शरीर के नाश का दुख न करके ब्रह्म तत्त्व में लीन होने का प्रबन्ध करो, पक्षी का घर भागना यही है। काटते समय पेड़ को हिलने और वृद्धावस्था में शरीर को काँपते किसने नहीं देखा होगा। परंतु किसलिए वह हिलता–काँपता है, उसका रहस्य कबीर ही जान पाए हैं। यह आभास किसको नहीं मिलता, पर कितने हैं, जो उनको समझ पाते हैं।

नाश नीची स्थिति वालों के लिए ही मुँह बाए नहीं खड़ा है, ऊँची स्थिति वाले भी उसी घाट उतरेंगे इस बात का संकेत यह दोहा देता है–

'फागुण आवत देखि करि, बन रूना मन माहिं।
ऊँची डाली पात हैं, दिन दिन पीले थाहिं।'

कबीर की चमत्कारपूर्ण उल्टवाँसियाँ भी रहस्यपूर्ण हैं। कठोपनिषद् के अनुसार मनुष्य का शरीर रथ है, जिसमें इन्द्रियों के घोड़े जुते हैं, घोड़ों पर मन की लगाम लगी हुई है, जो सारथी रूपी बुद्धि के हाथ में है। 'परमपद' की पथिक आत्मा इस रथ पर सवार है, उसकी इच्छा के अनुसार उसका परिचालन होना चाहिए। शरीर सेवक है, आत्मा स्वामी है। यह स्वाभाविक क्रम है। परंतु जब स्वामी सो जाये, सारथी किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाये और घोड़ों की लगाम निरुद्देश्य ढीली पड़ जाये, तब यह क्रम उल्ट जाता है, स्वामी का स्थान सेवक ले लेता है। रथ के अधीन होकर स्वामी भटका करता है और प्रायः ऐसा होता है कि घोड़ों (इन्द्रियों) के मनमाने आचरण से रथ (शरीर) और स्वामी (आत्मा) दोनों को अनेक प्रकार के कष्ट भोगने पड़ते हैं। भवजाल में पड़े हुए मनुष्यों की इसी उल्टी अवस्था को विशेषकर कबीर ने अपनी उल्टवाँसियों द्वारा व्यंजित कर लोगों को आश्चर्य में डाला है–

'ऐसा अद्भुत मेरा गुरु कथ्या, मैं रह्या उमेषै।
मूसा हस्ती सौं लड़ै कोई विरला पेषै।
मूसा बैठा बाँबि मैं, लारै सापणि धाई।
उलटि मूसै सापिण गिली यह अचरज भाई।

चींटी परबत ऊपण्यां ले राख्यौ चौड़ै।
मुर्गा मिनकी सूँ लड़ै झल पाणीं दौड़े।
सुरही चूषै बछतलि, बछा दूध उतारै।
ऐसा नवल गुणी भया, सारदूलहि मारै।
भील लुक्या बन बीझ मैं, ससा सर मारै।
कहैं कबीर ताहि गुरु करौं, जो या पदहि विचारै।'

इस बात का आभास देने वाला यह सांकेतिक पद कितना रहस्यपूर्ण है' बाँझ का पूत, बाप बिन जाया, बिन पाउँ तरवर चढ़िया।

अस बिन पाषर, गज बिन गुड़िया, बिन पंडै संग्राम लडिया।
बीज बिन अंकुर, पेड़ बिन तरवर, बिन सापा तरवर फलिया।
रूप बिन नारी, पुहुप बिन परिमल, बिन नीरै सर भरिया।'

सभी संत कवियों के काव्य में थोड़ा-बहुत रहस्यवाद मिलता है। पर उनका काव्य विशेषकर कबीर का ही ऋणी है। बंगला के वर्तमान कवीन्द्र को भी कबीर का ऋण स्वीकार करना पड़ेगा। अपने रहस्यवाद का बीज उन्होंने कबीर ही में पाया। परंतु उनमें पाश्चात्य भड़कीली पालिश भी है। भारतीय रहस्यवाद को उन्होंने पाश्चात्य ढंग से सजाया है। इसी से यूरोप में उनकी इतनी प्रतिष्ठा हुई है। जब से उन्हें नोबेल प्राइज (पुरस्कार) मिला तब से लोग उनकी गीतांजलि की बेहतर नकल करने पर तुले हुए हैं। हिंदी का वर्तमान रहस्यवाद अब तक नकल ही-सा लगता है। सच्चे रहस्यवाद के आविर्भाव के लिए प्रतिभा की अपेक्षा होती है। कबीर इसी प्रतिभा के कारण सफल हुए हैं। पिंगल के नियमों को भंग करके खड़ा किया हुआ निरर्थक शब्दाडंबर रहस्यवादी कविता का आसन नहीं प्राप्त कर सकता है।

काव्यत्व

कबीर के काव्य के विषय में बहुत कुछ बातें उनके रहस्यवाद के अंतर्गत आ चुकी हैं, यहाँ पर बहुत कम कहना शेष है। कविता के लिए उन्होंने कविता नहीं की है। उनकी विचारधारा सत्य की खोज में बही है, उसी का प्रकाश करना उनका ध्येय है। उनकी विचारधारा का प्रवाह जीवनधारा के प्रवाह से भिन्न नहीं है। उसमें उनका हृदय घुला मिला है, उनकी प्रतिभा हृदय समन्वित है। उनकी बातों में बल है, जो दूसरे पर प्रभाव डाले बिना नहीं रह सकता। अक्खड़ ढंग से कही होने पर भी उनकी बेलाग बातों में एक और ही मिठास है, जो खरी-

खरी बातें कहने वाले ही की बातों में मिल सकती है। उनकी सत्यभाषिता और प्रतिभा का ही फल है कि उनकी बहुत-सी उक्तियाँ लोगों की जबान पर चढ़ कर कहावतों के रूप में चल पड़ी हैं। हार्दिक उमंग की लपेट में जो सहज विदग्धता उनकी उक्तियों में आ गयी है, वह अत्यंत भावापन्न है। उसी में उनकी प्रतिभा का चमत्कार है। शब्दों के जोड़-तोड़ में चमत्कार लाने के फेर में पड़ना उनको प्रकृति के प्रतिकूल था। दूर की सूझ जिस अर्थ में केशव, बिहारी आदि कवियों में मिलती है, उस अर्थ में उनमें पाना असंभव है। प्रयत्न उनकी कविता में कहीं नहीं दिखाई देता। अर्थ की जटिलता के लिए उनकी उल्टवाँसियाँ केशव की शब्दमाया को मात करती हैं, परंतु उनमें भी प्रयत्न दृष्टिगत नहीं होता। रात-दिन आँखों में आने वाले प्रकृति के सामान्य व्यापारों के उल्टे व्यवहार को ही उन्होंने सामने रखा है। सत्य के प्रकाश का साधन बनकर, जिसकी प्रगाढ़ अनुभूति उनको हुई थी, कविता स्वयमेव उनकी जिह्वा पर बैठी है। इसमें संदेह नहीं कि कबीर में ऐसी भी उक्तियाँ हैं जिनमें कविता के दर्शन नहीं होते और ऐसे पद्य कम नहीं हैं किंतु उनके कारण कबीर के वास्तविक काव्य का महत्त्व कम नहीं हो सकता है, जो अत्यंत उच्चकोटि का है और जिसका बहुत कुछ माधुर्य रहस्यवाद के प्रकरण के अंतर्गत दिखाया जा चुका है।

जैसे कबीर का जीवन संसार से ऊपर उठा था, वैसे ही उनका काव्य भी साधारण कोटि से ऊँचा था। अतएव सीखकर प्राप्त की हुई रसिकता का काव्यानंद उनमें नहीं मिलता। परंपरा से बँधे हुए लोगों को काव्यजगत में भी इन्द्रियलोलुपता का कीड़ा बनकर रहना भी भला लगता है। कबीर ऐसे लोगों की परितुष्टि की परवाह कैसे कर सकते थे, जिनको निरपेक्षी के प्रति होने वाला उनका प्रेम भी शुष्क लगता है। प्रेम की पराकष्ठा आत्म समर्पण का मानो काव्यजगत में कोई मूल्य ही नहीं है।

कबीर ने अपनी उक्तियों पर बाहर से अलंकारों का मुलम्मा नहीं चढ़ाया है। जो अलंकार उनमें मिलते भी हैं वे उन्होंने खोज खोजकर नहीं बैठाए हैं। मानसिक कलाबाजी और कारीगरी के अर्थ में कला का उनमें सर्वथा अभाव है। 'बे-सिर-पैर की बातें, 'वायवी अवस्तुओं' का स्थान और नाम-निर्देश कर देने को कविकर्म कहकर शेक्सपियर ने कवियों को सन्निपात या पागलपन में बे-सिर-पैर की बातें बकने वालों की श्रेणी में रख दिया है। जिन कवियों के संबंध में 'किं न जलपंति' कहा जा सकता है, उन्हीं का उल्लेख 'किं न खादंति' वाले वायसों के साथ हो सकता है। सच्ची कला के लिए तथ्य आवश्यक है।

भावुकता के दृष्टिकोण से कला आडम्बरों के बन्धन से निर्मुक्त तथ्य है। एक विद्वान् कृत इस परिभाषा को यदि काव्यक्षेत्र में प्रयुक्त करें तो कम कवि सच्चे कलाकारों की कोटि में आ सकेंगे। परंतु कबीर का आसन उस ऊँचे स्थान पर अविचल दिखाई देता है। यदि सत्य के खोजी कबीर के काव्य में तथ्य की स्वतंत्रता नहीं मिलती तो और कहीं नहीं मिल सकती। कबीर के महत्त्व का अनुमान इसी से हो सकता है।

कबीर के काव्य में नीचे लिखी हुई खटकने वाली बातें भी हैं, जिनकी ओर स्थान-स्थान पर संकेत करते आये हैं–

1. एक ही बात को उन्होंने कई बार दुहराया है, जिससे कहीं-कहीं रोचकता जाती रहती है।
2. उनके ज्ञानीपन की शुष्कता का प्रतिबिम्ब उनकी भाषा का अक्खड़पन होकर पड़ा है।
3. उनकी आधी से अधिक रचना दार्शनिक पद्य मात्र है, जिसको कविता नहीं कहना चाहिए।
4. उनकी कविता में साहित्यिकता का सर्वथा अभाव है। थोड़ी-सी साहित्यिकता आ जाने से परंपरानुबद्ध रसिकों के लिए उपालम्भ का स्थान न रह जाता।
5. न उनकी भाषा परिमार्जित है और न उनके ग्रंथ पिंगलशास्त्र के नियम के अनुकूल हैं।

कबीरदास छन्द-शास्त्र से अनभिज्ञ थे, यहाँ तक कि वे दोहों को पिंगल की खराद पर न चढ़ा सके। डफली बजाकर गाने में जो शब्द जिस रूप में निकल गया, वही ठीक था। मात्राओं के घट-बढ़ जाने की चिंता करना व्यर्थ था। पर साथ ही कबीर में प्रतिभा थी, मौलिकता थी, उन्हें कुछ सन्देश देना था और उनके लिए शब्द को मात्र गिनने की आवश्यकता न थी, उन्हें तो इस ढंग से अपनी बातें कहने की आवश्यकता थी, जो सुनने वालों के हृदय में पैठ जायँ और पैठकर जम जायँ। तिस पर वह हिंदी कविता के आरंभ के दिन थे। पर आजकल के रहस्यवादी काव्यों में न प्रतिभा के दर्शन होते हैं और न मौलिकता का आभास मिलता है। केवल ऊटपटाँग कह देने और भाषा तथा पिंगल की उपेक्षा दिखाने ही में उन आवश्यक गुणों के अभावों की पूर्ति नहीं हो सकती।

भाषा

कबीर की भाषा का निर्णय करना टेढ़ी खीर है क्योंकि वह खिचड़ी है। कबीर की रचना में कई भाषाओं के शब्द मिलते हैं परंतु भाषा का निर्णय

अधिकतर शब्दों पर निर्भर नहीं है। भाषा के आधार क्रियापद, संयोजक शब्द तथा कारक चिह्न हैं, जो वाक्य विन्यास की विशेषताओं के लिए उत्तरदायी होते हैं। कबीर में केवल शब्द ही नहीं क्रियापद, कारक चिह्नादि भी कई भाषाओं के मिलते हैं, क्रियापदों के रूप में अधिकतर ब्रजभाषा और खड़ी बोली के हैं। कारक चिह्नों में कै, सन, सा आदि अवधी के हैं, को ब्रज का है और थे राजस्थानी का। यद्यपि उन्होंने स्वयं कहा है–'मेरी बोली पूरबी', तथापि खड़ी ब्रज, पंजाबी, राजस्थानी, अरबी, फारसी आदि अनेक भाषाओं का पुट भी उनकी उक्तियों पर चढ़ा हुआ है। पूरबी से उनका क्या तात्पर्य है, यह नहीं कह सकते। उनका बनारस निवास पूरबी से अवधी का अर्थ लेने के पक्ष में है, परंतु उनकी रचना में बिहारी का पर्याप्त मेल है, यहाँ तक कि मृत्यु के समय मगहर में उन्होंने जो पद कहा है उसमें मैथिली का भी कुछ संसर्ग दिखाई देता है। यदि 'बोली' का अर्थ मातृभाषा लें और 'पूरब' का बिहारी तो कबीर के जन्म के विषय पर एक नया ही प्रकाश पड़ जाता है। उनका अपना अर्थ जो कुछ हो, पर पाई जाती हैं उनमें अवधी और बिहारी, दोनों बोलियाँ।

इस पंचमेल खिचड़ी का कारण यह है कि उन्होंने दूर-दूर के साधु-संतों का सत्संग किया था जिससे स्वाभाविक ही उन पर भिन्न-भिन्न प्रान्तों की बोलियों का प्रभाव पड़ा। खड़ी बोली का पुट इस दोहे में देखिए–

'कबीर कहता जात हूँ सणता है सब कोइ।
राम कहे भला होइगा, नहिंतर भला न होइ।
आऊँगा न जाऊँगा, मरूँगा जीऊँगा।
गुरु के सबद रमि रमि रहूँगा।'

इसमें शुद्ध खड़ी बोली के दर्शन होते हैं।

'जब लगि धसै न आभ' में 'धसै' ब्रजभाषा का है और 'आभ' फारसी के आब का बिगड़ा हुआ रूप है। आगे लिखे दोहे में अंषड़ियाँ, जीभड़ियाँ आदि रूप पंजाबी का और पड़ा क्रिया राजस्थानी प्रभाव प्रकट करते हैं–

'अंषड़ियाँ झाँई पड़ी पंथ निहारि निहारि।
जीभड़ियाँ छाला पड़ा राम पुकारि पुकारि।'

पंजाब के केवल बहुत से शब्द ही नहीं मुहावरे भी उनमें मिलते हैं। जैसे–

1. रलि गया आटे लूँण
2. लूण बिलग्गा पाणियाँ पाणी लूण विलग्ग

इनके उच्चारण पर भी पंजाबी का प्रभाव दृष्टिगत होता है। न कोण कहना पंजाबी की ही विशेषता है। पंजाबी विवेक का उच्चारण बवेक करते हैं। कबीर

में भी वह शब्द इसी रूप में मिलता है। बंगला के भी इनमें कुछ प्रयोग मिलते हैं। आछिली शब्द बंगला का छिली है, जो 'था' अर्थ में प्रयुक्त होता है–'कहु कबीर कुछ आछिलो जहिया। ' इसी प्रकार 'सकना' अर्थ में क्रिया के रूप भी जो अब केवल बंगला में मिलते हैं, पर जिनका प्रयोग जायसी और तुलसी ने भी किया है, इनकी भाषा में पाए जाते हैं–

'गाँइ कु ठाकुर खेत कु नेपै, काइथ खरच न पारै। '

संस्कृत वर्ज्य से बिगड़कर बना हुआ एक 'बाज' शब्द तुलसी और जायसी दोनों में मिलता है। जायसी में यह बाझ रूप में मिलता है। पर आजकल इसका प्रयोग अधिकतर पंजाबी में ही होता है, जहाँ इसका रूप 'बाझो' होता है–

'भिस्त न मेरे चाहिए बाझ पियारे तुज्झ। '

जेम, ससिहर आदि शुद्ध अपभ्रंश के भी कई शब्दों का उन्होंने प्रयोग किया है। 'जेम' शब्द संस्कृत 'यद्व' से निकला है और ससिहर संस्कृत शशधर से। अपभ्रंश में संस्कृत के क, का, ग हो जाता है, जैसे प्रकट का प्रगट। कबीर ने मनमाने ढंग से भी ऐसे परिवर्तन किए हैं। उपकारी का उन्होंने उपगारी बनाया है। संस्कृत के महाप्राण अक्षर प्राकृत और अपभ्रंश में प्राय: ह रह जाते हैं जैसे शशधर से ससिहर। कबीर में इसका विपर्यय भी मिलता है। उन्होंने दहन को दाझन कहा है।

फारसी के एक ही शब्द का हमने ऊपर उदाहरण दिया है। यत्र-तत्र फारसी- अरबी के शब्द तो उनमें मिलते ही हैं, उनके कुछ पद ऐसे भी हैं जिनमें अरबी और फारसी शब्दों की ही भरमार है। उदाहरण के लिए उनकी पदावली का 258वाँ पद ले लीजिए, जिसकी दो पंक्तियाँ हम यहाँ उद्धृत करते हैं–

'हमरकत रहबरहुँ समाँ मैं खुर्दा सुभाँ विसियार।
हमजिमीं आसमाँन खलिंक, गुंदा मुसकिल कार।'

हम कह चुके हैं कि कबीर पढ़े-लिखे नहीं थे, इसी से वे बाहरी प्रभावों के बहुत अधिक शिकार हुए। भाषा और व्याकरण की स्थिरता उनमें नहीं मिलती। या यह भी संभव है कि उन्होंने जान-बूझकर अनेक प्रान्तों के शब्दों का प्रयोग किया हो अथवा शब्द भण्डार की कमी के कारण जब जिस भाषा का सुना सुनाया शब्द उनके सामने आ गया हो, उन्होंने अपनी कविता में रख दिया हो। शब्दों को उन्होंने तोड़ा-मरोड़ा भी बहुत है। सन् को सनि सनां सूँ-चाहे जिस रूप में तोड़-मरोड़कर उन्होंने आवश्यकतानुसार अपनी उक्तियों में ला बैठाया है। इसके अतिरिक्त उनकी भाषा में अक्खड़पन है और साहित्यिक कोमलता या

प्रसाद का सर्वथा अभाव है। कहीं-कहीं उनकी भाषा बिल्कुल गँवारू लगती है, पर उनकी बातों में खरेपन की मिठास है, जो उन्हीं की विशेषता है और उसके सामने यह गँवारपन डूब जाता है।

उपसंहार

हिंदी के काव्य साहित्य में कबीर के स्थान का निर्णय करना कठिन है तुलना के लिए एक ही क्षेत्र के कवियों को लेना चाहिए। कबीर का काव्य मुक्तक क्षेत्र के अंतर्गत है। उसमें भी उन्होंने कुछ ज्ञान पर कहा है और कुछ नीति पर। नानक, दादू, सुन्दरदास आदि ज्ञानाश्रयी निर्गुण भक्त कवियों में वे सहज ही सबसे बढ़कर हैं। नानक, दादू आदि में कबीर की ही पुनरावृत्तियाँ हैं, परंतु आँचल में अस्वाभाविकता भी वे खूब बाँध लाए हैं। नीतिकाव्य की सफलता की कसौटी उसकी सर्वप्रियता है। कबीर के नीतिकाव्य की सर्वप्रियता न वृन्द को प्राप्त हुई और न रहीम को। रहीम में कबीर के भाव ज्यों के त्यों मिलते हैं। कहीं-कहीं तो दोहे का दोहा रहीम ने अपना लिया है, यथा-

'कबीर यह घर प्रेम का खाला का घर नाहि।
सीस उतारै हाथ करि सो पैसे घर माँहि।'
-कबीर।

'रहिमन घर है प्रेम का खाला का घर नाहिं।
सीस उतारै भुइँ धरै सो जावै घर माँहिं।'
-रहीम।

वृन्द और कबीर की विदग्धता एक-सी है। रहस्यवादी कवियों में भी कबीर का ही आसन सबसे ऊँचा है, शुद्ध रहस्यवाद केवल उन्हीं का है। प्रेमाख्यानक कवियों का रहस्यवाद तो उनके प्रबन्ध के बीच-बीच में बहुत जगह थिगली-सा लगता है और प्रबन्ध से अलग उसका अभिप्राय ही नष्ट हो जाता है। अन्य क्षेत्रों के कवियों के साथ कबीर की तुलना की ही नहीं जा सकती। तुलसी और सूर कविता के साम्राज्य में सर्वसम्मति से और सब कवियों की पहुँच के बाहर हैं। चन्दकृत पृथ्वीराजरासो नामक जो प्रक्षिप्त महाकाव्य प्रसिद्ध है, उसी में उनके महत्त्व का बहुत कुछ दर्शन हो जाता है। अतएव जब तक उनकी रचना के विषय में कोई निश्चयात्मक निर्णय नहीं हो जाता, तब तक उनको किसी के साथ तुलना के लिए खड़ा करना उन पर अन्याय करना है। केशव को काव्यशास्त्र का आचार्य भले ही मान लें, पर उनको नैसर्गिक कवियों में गिनना

कवित्व का तिरस्कार करना है। बिहारी की कोटि के कवियों की कविता को सच्ची स्वाभाविक कविता में गिनने में भी संकोच हो सकता है। मूँड़ मुँड़ाकर शृंगार के पीछे पड़ने वाले सब कवि इसी श्रेणी में हैं। पर भूषण, जायसी और कबीर में कौन बड़ा है, इसका निर्णय नहीं हो सकता। तीनों में सच्चे कवि की आकुलता विद्यमान है, और अपने क्षेत्र में तीनों की पूरी पहुँच है, तीनों एक श्रेणी के हैं, फिर भी यदि आध्यात्मिकता को भौतिकता से श्रेष्ठ ठहराकर कोई कबीर को श्रेष्ठ ठहरावे तो रुचिस्वातन्त्र्य के कारण उसे यह अधिकार है। प्रभाव से यदि श्रेष्ठता मानें तो तुलसी के बाद कबीर का ही नाम आता है, क्योंकि तुलसी को छोड़कर हिंदी भाषी जनता पर कबीर के समान या उनसे अधिक प्रभाव किसी कवि का नहीं पड़ा।

7

कबीर की समाज संबंधी विचारधारा

भारत के इतिहास का मध्यकाल सामाजिक संक्रांति का युग था। समाज संगठन की दृष्टि से अस्त-व्यस्त था। धर्म दर्शन और संस्कृत की अनेक धाराएँ परस्पर संघर्षरत थीं। हिन्दू-समाज भेद-भाव पर आधारित शास्त्रों द्वारा अनुमोदित वर्ण व्यवस्था से संचालित होता था परन्तु विद्रोह के स्वर भी उठते थे। बौद्धों, जैनों, नाथों और सिद्धों इत्यादि की विद्रोह में महती भूमिका होती थी। हिन्दू समाज के समानान्तर मुस्लिम समाज का धर्म इस्लाम, जो कि सैद्धान्तिक आधार पर समानता का पोषक होते हुए विषमता की भावना से ग्रस्त हो रहा था। बाह्याचारों ने एक सीमा तक इसे अपने मूल से भटका दिया था। यद्यपि इनके बीच भी सूफी संत विद्रोही तेवर के साथ आ खड़े हुए थे परन्तु आम जनता कर्मकाण्डों द्वारा संचालित धर्म के दुष्चक्र में उलझी हुई थी। ऐसे समय में कबीर ने जटिल परिस्थितियों के मध्य अपनी स्वतंत्र दृष्टि मानवतावादी चिन्तन पद्धति और दृढ़ संकल्पना शक्ति के द्वारा समाज में व्याप्त विषमता का न केवल विरोध ही किया अपितु अपनी वाणियों के माध्यम से समता मूलक समाज के लिए आधारभूमि भी प्रस्तुत की। सामाजिक वि शृंखलता का केन्द्र व्यक्ति के लिए उच्च आदर्श उपस्थित करते हुए कबीर कहते हैं कि व्यक्ति को गुण ग्राही और आत्मज्ञानी होना चाहिए। यथा - तरुवर

तास बिलविये, बारह मास फलंत। 'सीतल छाया गहर फल, पंछी केलि करंत' कबीर के अनुसार वास्तव में व्यक्ति वही है, जो सामाजिक साम्य, स्थापना हेतु अपना सर्वस्व उत्सर्ग कर दे। द्रष्टव्य है – तन मन सीस समरपन कीन्हां, प्रगत जोति तंह आतम लीनां। इसके अतिरिक्त कबीर ने व्यक्ति के आदर्श के रूप में निस्पृहता अहंकारहीनता एवं निर्विष्यता इत्यादि के महात्म्य का उल्लेख किया है। देखिए – निरवेरी निहः कांमता, सांई सेती नेह। 'विषिया सू न्यारा रहे, संतनि का अंग एह। सिद्धान्ततः नारी को व्यक्ति से इतर नहीं माना जाना चाहिए, परन्तु व्यवहार में नारी का विषय पृथक् रूप से ही विचारणीय होता है। उल्लेखनीय है कि कबीर की नारी निन्दा सर्वविदित है, परन्तु उसी के साथ सीमित संदर्भों में समाज में उनकी आदर्श नारी संबंधी विचारधारा के भी दर्शन होते हैं। वह नारी के लिए त्याग, निष्ठा, पतिव्रत एवं सतीत्व की आवश्यकता पर बल देते हुए कहते हैं कि उसे अपने पति के लिए, जो कि उसके प्रेम का आधार होता है सब कुछ अर्पित कर देना चाहिए। यथा – इस मन का दीया करों, धरती मैल्यूं जीव। ध्लोही सींचो तेज ज्यूं, चित दैखौं तित पीव। ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि कबीर जैसा विद्रोही कवि नारी समाज के प्रति समाज के अन्य अंगों जैसे स्वस्थ मानसिकता नहीं रखता है, परन्तु उपर्युक्त संदर्भ के माध्यम से भारतीय समाज के पारिवारिक संबंधों में पति–पत्नी के संबंधों की पवित्रता का स्वरूप अवश्य सामने आ जाता है।

विद्या ग्रहण करने वाला विद्यार्थी कहलाता है। समाज में विद्यार्थी की भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होती है। विद्यार्थी समाज का वह आवश्यक अंग हैं, जो भविष्य के समाज की रूपरेखा का नियन्ता होता है। यद्यपि वर्तमान में विद्या और विद्यार्थी दोनों से संबंधित मान्यताएँ बदल चुकी हैं, परन्तु मध्यकाल तक शिक्षा के मूल उद्देश्यों में से एक एवं मुख्य उद्देश्य अध्यात्म और मानवानुकूल श्रेष्ठ गुणों का विकास था। गुरु एवं शिष्य संबंध सभी मानवीय संबंधों से उच्च एवं पवित्र माने गये। कबीर तो इस संबंध की श्रेष्ठता के प्रबल समर्थक के रूप में सामने आते हैं। यथा – सतगुरु की महिमा अनन्त, अनन्त किया उपकार। 'लोचन अनन्त उघाड़िया, अनन्त दिखावणहार। विद्यार्थी को सातात्त्विक गुरु प्राप्त करने के लिए अपना सम्पूर्ण अर्पित कर देने की बात करते हुए कबीर कहते हैं कि – मेरा मुझ में कुछ नहीं, जो कुछ है सो तेरा। 'तेरा तुझको सौंपता, क्या लागे है मेरा कबीर ने गुरु शिष्य दोनों के लिए श्रेष्ठता स्व–नियंत्रण समदर्शिता एवं आत्म–नियंत्रण को आवश्यक मानते हुए समाज के

सर्व कल्याण के लिए सहायक माना है। यद्यपि साम्प्रदायिकता का जो भयावह स्वरूप समसामयिक संदर्भों में दृष्टिगत होता है वह आधुनिक युग का रूप है।

मध्यकाल में साम्प्रदायिक वैमनस्य कारण साम्प्रदायिक श्रेष्ठता की होड़ की मानसिकता पर आधारित थी। वह कभी तो दो धर्मों के मध्य की होड़ के कारण दृष्टिगत होती थी तो कभी एक ही धर्म के विविध सम्प्रदायों के मध्य दिखाई देती थी। कबीर समाज में साम्प्रदायिक एकता स्थापित करने के क्रम में उभय धर्मों की आलोचना में मुखर हो उठते हैं। यथा – जौर खुदाय मसीति बसत है, और मुलिक किस केरा। 'तीरथ मूरति राम निवासा, दुहु मैं किनहू न हेरा'। साम्प्रदायिक साम्य की भावना से संचालित कबीर साहित्य में अनेक दोहे और पद देखे जा सकते हैं। जो समाज में एकता एवं भाईचारे के लिए मार्ग प्रशस्त करने में सहायक सिद्ध होते प्रतीत होते हैं। इसी भावना के समानातर वर्ण व्यवस्था के परिणाम स्वरूप समाज में उपजी अस्पृश्यता का विरोध कबीर द्वारा प्रस्तुत साम्यवादी समाज के संदर्भों की महती विशेषता है। समाज के विकास की प्रमुख बाँधाओं में आर्थिक वैषम्य के प्रभाव को अनदेखा नहीं किया जा सकता है। कबीर आर्थिक विषमता के मूल धन संचय एवं वैभवपूर्ण जीवन पर कुठाराघात करते हुए कहते हैं – कबीर सो धन संचिये, जो आगे कूं होइ। 'सीस चढ़ाये पोठली, ले जात न देख्या कोइ। वास्तविक धन का संकेत करते हुए कबीर कहते हैं कि – निरधन सरधन दोनों भाई प्रभु की कला न मेरी जाई। ध्कहि कबीर निरधन है सांइ जाके हिदये नाम न होई'। कबीर की मान्यता है कि धन संचय अध्यात्म और समाज दोनों के विरुद्ध है। यही कारण है कि वह आर्थिक वैषम्य के स्थान पर साम्य स्थापित करने के आकांक्षी रूप में सामने आते हैं।

कबीर अपनी वाणियों के माध्यम से सामाजिक ढांचे को विश्रृंखलता से दूर करने के लिए मानवता की भावना की आवश्यकता पर विशेष बल देते हैं। मानवोचित् गुणों का उल्लेख करते समय दया, क्षमा, उदारता और दानशीलता आदि को रेखांकित किया जाता है। कदाचित् मनुष्यों के यही वह सद्व्यवहार है, जो समाज को सुसंगठित रखने में अहम् भूमिका निभा सकते हैं। सद्व्यवहार से संबंधित कबीर काव्य में अनेक पद एवं दोहे बिखरे पड़े हैं। यथा– एते औरत मरदां साजे, ये सब रूप हमारे। 'कबीर पंगुरा राम अलह का, सब गुरु पीर हमारे'। प्रस्तुत दोहे में कबीर सभी में यहाँ तक कि असहाय तक में अपनी आत्मा को पहचानते हुए उनका सम्मान एवं सेवा करने की घोषणा करते हैं। प्राचीन काल से ही संसार के अधिकांश समाज में व्यवस्था के लिए जिस विशिष्ट नियमों और

उप-नियमों का पालन किया जाता है ऐसे सार्वजनीन एवं सार्वभौमिक नियम को धर्म की संज्ञा से अभिहीत किया जाता है। व्यवस्था, न्याय, सत्य, अहिंसा और प्रेम इत्यादि उदात्त भावों पर आधारित होती है। यही समाज को संगति प्रदान करती है। परन्तु जब अव्यवस्था या यूँ कहा जाये कि धर्म के स्थान पर अधर्म का जब समाज में प्रभाव बढ़ जाता है तब समाज में विसंगतियों का जन्म स्वाभाविक है। कबीर कालीन समाज की विसंगतियों के उल्लेख की आवश्यकता नहीं। कबीर अधर्म जन्य विश्रृंखल समाज का विरोध ही नहीं करते वरन् सहज एवं सत्य धर्म के स्वरूप को निर्दिष्ट करते हुए कहते हैं कि उसका आधार चरित्र, संयम एवं हृदय तथा मन की स्वच्छता है। यथा-जे मन नहि तजे विकारा, तो क्यूँ तिरिये भो पारा। 'जब मन छाड़े कुटिलाई तब आइ मिले राम राई'। कबीर धर्म के अन्तर्गत सातात्त्विक, नैतिकता इत्यादि को भी महत्त्व देते हुए समाज के लिए ऐसे सहज धर्म का निर्देशन करते हैं, जो साधक को स्तुति निन्दा, आशा एवं मान अभिमान से मुक्त कर देता है। यथा- असतुति निन्दा आसा छोड़ तजे मान-अभिमाना। 'लोहा कंचन समि करि देखे ते मूरति भगवाना। भौतिक जगत में मानव समाज के अतिरिक्त जीव-जन्तुओं का भी एक विशाल संसार है। मनुष्यों का साथ इनका घनिष्ठ संबंध भी होता है। इतना ही नहीं वनस्पति जगत की परिवर्तन-परिवर्द्धन एवं संवेदनशील होता है। भारतीय दर्शन के अनुसार आत्मा सर्वव्यापी है। यह संसार के सभी पदार्थों में व्याप्त है, अतः मानव जीव-जन्तु एवं वनस्पतियाँ आध्यात्मिक एकता से परिपूर्ण हैं।

इस आधार पर कहा जा सकता है कि आध्यात्मिक एवं भौतिक दोनों धरातल पर इन सबको मिलाकर एक विशाल समाज की सृष्टि होती है। समाज के इस विशाल परिप्रेक्ष्य के प्रत्येक अंग के प्रति कबीर काव्य में संवेदनशीलता के दर्शन होते हैं। दृष्टव्य है -भूली मालनि पाती तोड़े, पाती पाली जीव। ध्जा मूरति को पाती तोड़े, सो मूरति निरजीव। जीव-जन्तुओं के प्रति उनकी जागरुकता विलक्षण है यथा - जीव वधत अरू धरम कहते हो, अधरम कहाँ है भाई। 'आपन तो मुनि जन हैं बैठे, कासनि कहौ कसाई'। प्रस्तुत तथ्यों के प्रकाश में यह स्पष्ट रूप से विदित होता है कि कबीर सुशिष्ट और संयत समाज के लिए समाज की अधिकांश इकाईयों से संबंधित स्पष्ट विचारधारा रखते हैं। समाज की आधारभूत इकाई व्यक्ति के लिए उन्होंने गुण ग्रहण की क्षमता से युक्त संयम और सदाचार के आदर्श को आवश्यक माना है। यद्यपि महिला कल्याण के विषय पर यथोचित् विचार प्रस्तुत नहीं किये उसे कबीर की सीमा के रूप में उल्लेखित

किया जाता है, परन्तु सामाजिक व्यवस्था में उनके लिए कुछ आवश्यक गुणों के रूप में चरित्र पतिव्रत एवं सतीत्व का उल्लेख अवश्य किया है। कबीर साहित्य में आध्यात्मिक एवं सामाजिक दोनों संदर्भों में गुरु को विशेष महत्ता प्राप्त है। धार्मिक विभेद वर्ण व्यवस्था एवं साम्प्रदायिक वैमनस्य का विरोध करके धार्मिक एवं साम्प्रदायिक एकता को उन्होंने सामाजिक साम्य के मूल रूप में रेखांकित किया है। वर्ण भेद को कबीर समाज की विखण्डनकारी शक्ति के रूप में देखते हुए उसे समाप्त करने का आह्वान करते हैं।

कबीर के अनुसार आर्थिक वैषम्य समाज में अव्यवस्था उत्पन्न करता है, अतः स्वस्थ समाज के लिए वैषम्य समाप्ति आवश्यक है। मानव के साथ उसके परिवेश को जोड़कर जिस विशाल समाज का सृजन होता है उसके अन्तर्सम्बंधों के संदर्भ में कबीर का दृष्टिकोण स्पष्ट एवं संरचनात्मक है। उपर्युक्त विवेचन-विश्लेषण के आलोक में कहा जा सकता है कि कबीर ने आध्यात्मिक क्षेत्र में जिस सहज सिद्धान्त को निर्धारित कर उसकी अनुभूति प्राप्त की उसी अनुभूति के आधार पर उन्होंने समाज में साम्य स्थापित करने हेतु समाज कल्याण की भावना से संचालित स्वस्थ एवं सुसंगठित समाज संबंधी विचारों का प्रतिपादन किया। समाज संबंधी यह वैचारिक प्रतिपादन कबीर साहित्य का आदम प्रतिपादन है।

8

कबीर की प्रासंगिकता : आधुनिक संदर्भ

आज जब हम चहुँ ओर व्याप्त सामाजिक जड़ता तथा अराजकता की ओर उन्मुख होते हैं तब व्यवस्था के विरुद्ध क्रांति का शंखनाद करने के लिए युगपुरुष की आवश्यकता महसूस करते हैं। कबीर का कालजयी व्यक्तित्त्व इस समय हमारे लिए ज्योतिपुंज है। आज से लगभग 600 वर्ष पूर्व 1397 ई. में काशी में जन्मे कबीर आजीवन अथक प्रयासों से समाज का मार्गदर्शन करते रहे। वे जुलाहा कर्म को अपनाकर गृहस्थ जीवन के साथ संत बनकर 'समाज सुधार' का कार्य भी करते रहे।

कबीर लोक-लाज बचाने के लिए त्यागे गये तथा नीमा और नीरू मुस्लिम जुलाहे द्वारा पालित पोषित पुर्त थे। आजीवन संघर्ष उपरान्त उन्होंने अपना देह त्याग मगहर में किया। जिसका संदेश उस अंधविश्वास को मिटाना था कि यहाँ मृत्यु होने पर व्यक्ति अगले जन्म में गधा बनता है। जो लोग जीवनभर कबीर के विरोधी थे उनकी मृत्युपरांत शव को लेकर हिन्दू-मुस्लिम आपस में उलझे। कबीर की उल्टबाँसिया आगे चलकर हिन्दू संतों, पीरों, फकीरों, 'गुरुग्रंथसाहिब' आदि की जुबान बनी अर्थात् कबीर का सम्पूर्ण जीवन ही उनका संदेश है।

डॉ. अम्बेडकर के अनुसार जातिवाद भारतीय समाज का सबसे बडा कोढ है। यहाँ समय के साथ सब चीजें नष्ट हो जाती हैं, लेकिन 'जाति' एक ऐसी

चीज शब्द है, जो कभी नहीं जाती। सोपानीकृत अवस्था में स्वर्ण, अवर्ण, अस्पृश्यता, ऊँच- नीच आदि से जर्जर भारतीय समाज के विरुद्ध कबीर ने मुखर आवाज उठाई तथा मानव मुक्ति की बात की। जन्म के आधार पर भेद-भाव को वे अमान्य ठहराते हैं–

जो तू बामन बामनि जाया, आन बाट तैं काहे न आया।

वे आम आदमी की आवाज थे। उन्होंने निम्नवर्गीय चेतना को शब्द दिये। कबीर ने जन्म, जाति या कुलगत उच्चता के बजाय कर्म तथा विचारों की उच्चता को प्रतिष्ठा दी। उन्होंने एक आदर्श समाज का सपना देखा एवं जो वर्णभेद जैसी मानव-मानव को अलग करने वाली परम्पराओं का खण्डन किया। आज जब जाति का बोलबाला है, तब कबीर द्वारा जातिवाद के विरुद्ध की गयी इस एक तरफा लड़ाई की याद आती है। वे आमजन की आवाज थे तथा अंधकार युग के जन नेता थे।

धर्म निरपेक्ष लोकतांत्रिक भारत के लिए हमें आदर्श समाज की रूपरेखा कबीर के संदेशों में मिलती है। हिन्दू समाज द्वारा बहिष्कृत तथा मुस्लिम समाज द्वारा तिरस्कृत कबीर ने ईश्वरीय एकता की बात कही। उन्होंने धर्म के नाम पर भेद-भाव तथा ईश्वर के नाम पर लडाई का तार्किक खण्डन किया। कबीर के राम निर्गुण एवं निराकार ईश्वर थे। उन्होंने उसे सबका प्रभु बनाया तथा मानव धर्म की प्रतिष्ठा की। उन्होंने आस्तिकों के ईश्वर, ईश्वरीय ग्रंथ, उपासना स्थल तथा अनुयायियों के नाम पर विभेद को नकारा तथा धार्मिक समन्वय की अवधारणा प्रतिपादित की। आज के धार्मिक वैमनस्य के वातावरण में कबीर के विचार प्रासंगिक हैं कि 'हिन्दू उसे राम कहता है। मुसलमान खुदा कहता है। तू उसकी परवाह न कर तब काबा काशी हो जाएगा और राम रहीम हो जाएगा। ' यही कारण है कि जब कबीर की मृत्यु हुई तब उनके शव पर दावा प्रत्येक धर्मानुयायी ने किया तथा मगहर में उसका स्मारक धार्मिक समन्वय की मिसाल है।

कबीर अपने समय के क्रान्तिकारी प्रवक्ता थे। उन्होंने आडम्बरों, कुरीतियों, जड़ता, मूढ़ता एवं अंधविश्वासों का तर्क पूर्ण खण्डन किया। कबीर का अपने युग के प्रति यथार्थ बोध इतना था कि उन्होंने हर एक परम्परा, रूढ़ि, कुरीति तथा पाखण्ड को यथार्थ के धरातल पर खारिज किया। अबुलफजल ने 'आइने अकबरी' में लिखा है कि ''कबीर ने समाज के सड़े-गले रीति-रिवाजों को नकार दिया। कबीर ने समाज सुधार के लिए कोडे खाए तो

व्यंग्य तथा हँसी-ठिठौली द्वारा भी जनमानस में सुधार के प्रति सोच विकसित की। '' उन्होंने आलोचना के साथ सृजन की रूपरेखा रखी। कबीर अराजकता, सामन्तवाद तथा उथल-पुथल के दौर में क्रान्तिकारी स्वप्नकार हैं। वे स्वभाव से संत थे, लेकिन प्रकृति से उपदेशक। उन्होंने अंधविश्वासों का उपहास कर ठीक निशाने पर चोट पहुँचाई। उन्होंने मूर्तिपूजा, तीर्थयात्रा, अवतारवाद एवं कर्मकाण्डों का विरोध किया तथा ईश्वर और व्यक्ति के बीच किसी भी मध्यस्थ को अस्वीकार किया। उन्होंने हर रूढ़ को खारिज किया, जो मानव-मानव में भेद कराती थी। आज के दौर में जब भौतिक साधनों हेतु भ्रष्टाचार, लूट- खसौट, मिलावटखोरी जैसे अपराध मानवता को झकझोर रहे हैं तब कबीर के ये विचार अति प्रासंगिक हैं–

सांई इतना दीजिए, जामे कुटुम्ब समाय।
मैं भी भूखा न रहूँ, साधु ना भूखा जाये।।

अर्थात् कबीर संग्रहवाद के बजाय अपरिग्रह को महत्त्व देते हैं। रामानन्द के शिष्य कबीर ने धार्मिक आडम्बरों के विरुद्ध आवाज उठाई और कहा कि–

कांकर पत्थर जोरि के मस्जिद लई बनाय।
ता ऊपर मुल्ला बांग दे क्या बहरा हुआ खुदाय।।

कबीर की उल्टबाँसिया पग-पग पण्र मानव को अंधकार से प्रकाश की ओर ले जाती हैं, वे हर उस व्यवस्था का विरोध करते हैं, जो मानव को अवनति की जंजीरों में जकडती है तथा उसे रसातल में ले जाती है।

कबीर ने मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा स्थापित की। उन्होंने धैर्य, सहिष्णुता, कर्मयोग, गुरु का सम्मान, प्रेम, मानवता, आत्मा की पवित्र्ता, दीन-दुखियों की सेवा, नैतिकता के पालन को मानवीय कर्त्तव्य माना। कबीर ने 'माली सींचे सौ घडा' के माध्यम से धैर्य के साथ कर्म को महत्त्व दिया। उन्होंने 'भृगु मारी लात' द्वारा क्षमा के महत्त्व तथा 'माटी कहे कुम्हार से' द्वारा सहिष्णुता का पाठ पढ़ाया। कबीर सच्चे अर्थों में कर्मयोगी थे। उन्होंने समाज को सचेत किया कि निर्बल को मत सताओ नहीं तो उसकी हाय से सब कुछ नष्ट हो जायेगा–

निर्बल को न सताइये जाकी मोटी हाय।
मुई खाल की श्वांस सौं लौह भसम हो जाय।।

उन्होंने पलायन न करके समाज के बीच में रहकर गृहस्थ के रूप में कर्मयोगी बनकर समाज को शिक्षित किया। उन्होंने जुलाहा कर्म को अपनाकर सभी के समक्ष आदर्श रखा कि कोई भी व्यवसाय हीन नहीं है अर्थात् कर्म की

महानता के वे साक्षात् प्रतीक थे। उन्होंने जीवन में कथनी और करनी की समानता को महत्त्वपूर्ण माना। वे दु:खी मानव की पीड़ा को स्वयं भोग रहे थे–

चलती चक्की देखकर दिया कबीरा रोए।
दुई पाटन के बीच में साबुत बचा न कोए।।

कबीर अनपढ़ थे, लेकिन वे लकीर के फकीर नहीं थे। वे यथार्थ जीवन के विद्वान् थे। वे कहते हैं–

मसिकागद छूयो नहीं, कलम गही नहिं हाथ।
चारिउ जुगन महातम् कबीर, मुखहि जनाई बात।।

उन्होंने शिक्षा प्रणाली को पोथियों से बाहर लाकर प्रेम तथा यथार्थ पर आधारित किया–

पोथी पढ़-पढ़ जग मुआ, पंडित भया न कोय।
ढ़ाई आखर प्रेम का, पढ़ै सौ पंडित होय।।

उन्होंने कर्म तथा स्वावलम्बन की शिक्षा दी। कबीर वैज्ञानिक दृष्टिकोण तथा तर्कबुद्धि को सच्ची शिक्षा मानते थे। उनके यथार्थवाद पर हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं, ''कबीर ने कविता के लिए कविता नहीं लिखी, वह अपने आप हो गयी। '' कबीर ने जनभाषा में जनता को शिक्षित किया। उनकी सधुक्कड़ी भाषा एक ओर मातृभाषा में विद्यार्थी को शिक्षित करने के लिए प्रेरित करती है, वहीं दूसरी ओर भाषायी पाण्डित्य, परायी भाषा में अपने लोगों से बात करना तथा भाषा के नाम पर विवाद पैदा करना आदि प्रवृत्तियों पर प्रश्नचिह्न लगाती है।

आज 21वीं सदी के विश्व में भारत जहाँ अपनी पहचान स्थापित करना चाहता है, वहाँ स्थानीय समस्याएँ, नक्सलवाद, जातिवाद, क्षेत्रर्वाद, भाषावाद, सम्प्रदायवाद के दौर में एक 'समग्र भारतीय व्यक्तित्त्व' के रूप में कबीर हमारे व्योम में जाज्वल्यमान नक्षत् हैं। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कबीर के लिए लिखा है, ''वे मुसलमान नहीं थे। हिन्दू होकर भी हिन्दू नहीं थे। वैष्णव होकर भी वे वैष्णव नहीं थे। योगी होकर भी योगी नहीं थे। वे भगवान् के नरसिंहावतार की मानव प्रतिमूर्ति थे। नरसिंह की भाँति वे असम्भव समझी जाने वाली परिस्थितियों के मिलन बिन्दु पर अवतरित हुए थे, जहाँ एक ओर ज्ञान निकल जाता है और दूसरी ओर भक्ति मार्ग। '' अकबर के दरबारी उर्फी ने उनके बारे में कहा है, ''ऐसे रहो अच्छे और बुरों के साथ, ओ ! उर्फी, कि जब तुम्हें मौत आए,

मुसलमान तुम्हारे शव को पाक पानी से नहलाये और हिन्दू उसका अग्नि संस्कार करें।''

यह कबीर का ही युग बोध है कि वे बीच बाजार में हाथ में जलता हुआ मुराड़ा लिये खड़े हैं और सत्य की खोज में समाज के अग्रदूत बने हैं–

हम घर जारा आपना, लिए मुराड़ा हाथि।
अब घर जालौ तास का, जो चलै हमारे साथी।।

भारतीय परम्परा में वे आज जुझारू प्रेरणा के प्रतीक हैं एवं मानवता तथा भारतीयता के सच्चे पोषक हैं।

❐❐❐